श्रीमते रामानुजाय नमः ॥ श्रीवादिभाकर महागुरवे नमः

भगवत्पाद-श्री रामानुजाचार्य प्रणीत

॥ हिन्दी श्रीभाष्य ॥

[सप्तम भाग]

सम्पादकः- जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र



स्वामी रामनारायणाचार्यजी महाराज

हिन्दी व्याख्याकार

श्री शिवप्रसाद द्विवेदी (श्रीधराचार्य)
साहित्य वेदान्ताचार्य; एम० ए० (द्वय)
वेदान्त विभागाध्यक्ष; श्रीहनुमत् सं०म० विद्यालय
हनुमानगढ़ी, अयोध्या

प्रथमावृत्ति	मूल्य	गङ्गा दशहरा
१०००	४) रुपये	२०३५ विक्रमाब्द

डाक व्यय पृथक

-:(समर्पण):-

श्री १००८ श्रीमद् वेदमार्ग प्रतिष्ठापनाचार्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य सत्सम्प्रदायाचार्य श्रीपति पीठ षष्ठ सिंहासन स्थिति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय



श्रीमद् विष्वक्सेनाचार्य श्री त्रिदण्डिस्वामिन्

परमाचार्य !

आपकी ही कृपा समृद्धि से समुद्भूत श्रीभाष्य खण्ड पुष्पों की महामाला के इस सप्तम पुष्प से २०३५ वर्षीय गंगादशहरा के पावन पर्व पर श्रीमत्के श्री चरणों को समलंकृत करने का साहस इस विश्वास से कर रहा हूँ कि श्रीमान अपनी वस्तु को इस नव परिवेश में प्रेक्षण जन्य प्रमन्दानन्द का अनुभव करेंगे।

श्रीमत्पदपद्मपराग लिप्सु श्रीधराचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी

श्याम सदन कटरा, अयोध्या (उ० प्र०)

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१– समन्वयाधिकरण का प्रारम्भ	१
२– अधिकरणपूर्व पक्षी मीमांसकों का मत	६
३– निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी का मत	९
४– अधिकरण पूर्वपक्षी के द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन	११
५– ध्यान नियोगवादी का मत	१८
६– साक्षात् मायावादी के द्वारा ध्याननियोगवादी का खण्डन	२३
७– शास्त्र के निर्विषयत्व शंका का परिहार	३३
८– ध्यान नियोगवादी द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन	३७
९– ध्यान वाक्यार्थज्ञान का हेतु नहीं	४०
१०– भास्कर मत की शङ्का का खण्डन	५२
११– ध्यान नियोगवादी द्वारा भास्कर मत का खण्डन	६५
१२– ध्यान विधिशेषवादी के मत का खण्डन	७९
१३– सिद्धान्ती द्वारा मीमांसकों के पूर्वपक्ष का खण्डन	८२
१४– सम्यग् ज्ञान पूर्वक उपासना ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन है	८५
१५– ईक्षत्यधिकरण	९०

—: भूमिका :—

विष्वक्सेन यतीन्द्रेभ्यः स्युर्नमांसि सहस्रशः ।
येषां सदर्थसंसिक्ता राजते वार्षभं श्रुतिः ।।

सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान का मूल स्रोत वेद विचार की दृष्टि से दो भागों में विभक्त है — कर्म काण्ड और ज्ञान काण्ड। ज्ञान काण्ड का दूसरा नाम वेदान्त है। वेदान्त शब्द का मुख्य प्रयोग उपनिषदों के अर्थ में होता है। उपनिषदों को वेदान्त इस लिये कहा जाता है कि ये वेदों के तत् तत् शाखाओं के अन्तिम भाग स्वरूप है। अथवा वेदों के अर्थों का निर्णयोपयोगी होने के कारण भी उन्हें वेदान्त कहा जाता है।

वेदान्त का ज्ञान हुए बिना कर्म काण्ड का भी अर्थ निर्णय होना असम्भव है किस देवता की प्रसन्नता के लिए कौन सा कर्म करना चाहिए, कर्मों का लक्ष्य क्या है? इत्यादि का ज्ञान वेदान्तों के द्वारा ही सम्भव है। वेदान्त उस विद्या का नाम है जो सर्वोपरि तत्व का प्रतिपादन करता है। उसे जान लेने पर कुछ भी जानने को बाकी नहीं रह जाता। यद्यपि वेदांत शब्द का गौण प्रयोग; ब्रह्म सूत्र,, गीता, तदानुकूल स्मृतियों के भी अर्थ में होता है किन्तु वेदान्त शब्द का मुख्याभिधेय उपनिषद् पदार्थ ही है। आचार्य के सन्निकट में बैठकर प्राप्य होने के कारण ही इन्हे उपनिषद् कहा जाता है।उपनिषद् शब्द की व्याख्या करते हुए द्रमिड भाष्य का कहना है कि साक्षात् भगवत् दर्शन का साधन होने के कारण उपनिषदों का वेदांत कहा जाता है।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१- समन्वयाधिकरण का प्रारम्भ	१
२- अधिकरणपूर्व पक्षी मीमांसकों का मत	६
३- निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी का मत	९
४- अधिकरण पूर्वपक्षी के द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन	११
५- ध्यान नियोगवादी का मत	१८
६- साक्षात् मायावादी के द्वारा ध्याननियोगवादी का खण्डन	२३
७- शास्त्र के निर्विषयत्व शंका का परिहार	३३
८- ध्याननियोगवादी द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन	३७
९- ध्यान वाक्यार्थज्ञान का हेतु नहीं	४०
१०- भास्कर मत की शङ्का का खण्डन	५२
११- ध्याननियोगवादी द्वारा भास्कर मत का खण्डन	६५
१२- ध्यान विधिविशेषवादी के मत का खण्डन	७६
१३- सिद्धान्ती द्वारा मीमांसकों के पूर्वपक्ष का खण्डन	८२
१४- सम्यग् ज्ञान पूर्वक उपासना ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन है	८५
१५- ईक्षत्यधिकरण	९०

—: भूमिका :—

विष्वक्सेन यतीन्द्रेभ्यः स्युर्नमांसि सहस्रशः ।
येषां सदर्थसंसिक्ता राजते यार्षभं श्रुतिः ॥

सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान का मूल स्रोत वेद विचार की दृष्टि से दो भागों में विभक्त है — कर्म काण्ड और ज्ञान काण्ड। ज्ञान काण्ड का दूसरा नाम वेदान्त है। वेदान्त शब्द का मुख्य प्रयोग उपनिषदों के अर्थ में होता है। उपनिषदों को वेदान्त इस लिये कहा जाता है कि ये वेदों के तत् तत् शाखाओं के अन्तिम भाग स्वरूप है। अथवा वेदों के अर्थों का निर्णयोपयोगी होने के कारण भी उन्हें वेदान्त कहा जाता है।

वेदान्त का ज्ञान हुए बिना कर्म काण्ड का भी अर्थ निर्णय होना असम्भव है किस देवता की प्रसन्नता के लिए कौन सा कर्म करना चाहिए, कर्मों का लक्ष्य क्या है? इत्यादि का ज्ञान वेदान्तों के द्वारा ही सम्भव है। वेदान्त उस विद्या का नाम है जो सर्वोपरि तत्व का प्रतिपादन करता है। उसे जान लेने पर कुछ भी जानने को बाकी नहीं रह जाता। यद्यपि वेदांत शब्द का गौण प्रयोग; ब्रह्म सूत्र,, गीता, तदानुकूल स्मृतियों के भी अर्थ में होता है किन्तु वेदान्त शब्द का मुख्याभिधेय उपनिषद् पदार्थ ही है। आचार्य के सन्निकट में बैठकर प्राप्त होने के कारण ही इन्हे उपनिषद् कहा जाता है। उपनिषद् शब्द की व्याख्या करते हुए द्रमिड भाष्य का कहना है कि साक्षात् भगवत् दर्शन का साधन होने के कारण उपनिषदों का वेदांत कहा जाता है।

के गूढ़ विषयों का विवेचन महर्षि बादरायण ने सूत्रशैलीमें उपस्थित किया है। ब्रह्म सूत्र पर महर्षि बोधायन की विस्तृत वृत्ति ग्रन्थ को पूर्वाचार्यों ने संक्षिप्त करदिया जिसके कारण प्रतिपाद्य अर्थ सुतराम् सर्वजन सम्वेद्य न होकर विशिष्ट बुद्धि अवगाह्य मात्र बन गया। साथ ही कराल काल के क्रूर झोकों तथा बहुमति व्याघातों ने विषयाथाल्य को सामान्य जन जीवनसे अत्यधिक दूर ढकेल दिया। जिसका कटु अनुभव भगवान रामानुजाचार्य करते हुए वेदार्थ संग्रह के मंगलाचरण में लिखते हैं:—

परं ब्रह्मं वाज्ञं भ्रमपरिगतं संसरति तत्,
परोपाध्यालीढं विवश मशुभस्यास्पदमिति।
श्रुतिन्यायापेतं जगति विततं मोहनमिदं,
तमो येनापास्तं सहि विजयते यामुनमुनिः॥

और उन्होंने अपने परमाचार्य श्री यामुनाचार्य द्वारा प्रणीत 'सिद्धित्रय' प्रभृत्ति ग्रन्थों के आलोक में ब्रह्म सूत्र प्रणयन हेतु सपाद् लक्षात्मक का बोधायन वृत्ति का अवलोकन करने के लिए श्रीकूरेशमिश्र के साथ काश्मीर के शारदा पीठ की यात्रा की। पुनः आपने ब्रह्म सूत्रों पर बिना किसी पूर्वाग्रह के सूत्राक्षरों की व्याख्या पूर्वाचार्य प्रदर्शित पथ पर चलते हुए की। श्रीभाष्य में वेदान्त के सभी वाक्यों के साथ न्यायोचित व्यवहार किया गया है। किसी श्रुति को न्यूनाधिक महत्व नहीं प्रदान किया गया।

किसी भी श्रुति का परस्पर में कोई विरोध नहीं बल्कि वे सभी तत्वयाथात्म्य की आपादिका हैं, यह मानकर उनकी व्याख्या की गयी है।

श्रीभाष्य के प्रणयन के पूर्व श्रुति सरस्वती के चिकुर-बन्ध अस्त-व्यस्त थे क्योंकि बहुमति व्याघात के कारण स्वयं भगवती रुजाक्रांत हो गयी थी। वेदान्त देशिक के शब्दों में श्री भाष्य रूपी महानदी में कुमति जाल बह गये, इसके शैत्य पावनत्व पूर्ण पयःपूर को पाकर मायावाद के भयंकर विषज्वाला से संतप्त मृतप्राय औपनिषद् धर्मावलम्बी सज्जनों के प्राण में प्राण आ गये, श्रीभाष्य के वाक्य अक्षय्य अमृत निःयन्द के अजस्र मूल उत्स हैं तथा श्री भाष्यकार की वाणी भगवती श्रुति के कोमल कुन्तलों को सजाने वाली चतुर सैरन्ध्रिका है।

इदम् प्रथमसम्भवन कुमतिजालकुलंकषा
मृषामतविषानलज्वलितजीवजीवातवः।
क्षरन्त्यमृतमक्षरम् यतिपुरन्दरस्योक्तयः,
चिरन्तनसरस्वतीचिकुरबन्धसैरन्ध्रिका ॥

(शतदूषणी मंगलाचरण)

श्रीभाष्य के व्याख्याकार श्री सुदर्शन सूरि का कहना है कि उन महायोगी भगवान रामानुजाचार्य को नमस्कार है, जिन्होंने श्रीभाष्य के प्रणयन द्वारा श्रुतियों तथा सूत्रों में उत्पन्न अन्तज्वर को शान्त कर दिया।

तस्मै रामानुजार्याय नमः परमयोगिने ।
यः श्रुति स्मृति सूत्राणामन्तर्ज्वरम् शीशमत् (श्रु०प्र०म०)

इस तरह स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्रों के भाष्यों में श्री भाष्य का महत्तम् तथा समन्वयात्मक स्थान है। ब्रह्म सूत्रों में चतुस्सूत्री का अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान है। आचार्यों ने चतुस्सूत्री का प्रयोजन शास्त्रारम्भ माना है। अर्थात् वेदान्त शास्त्र का अध्ययन क्यों करना चाहिये ? इस अर्थ का प्रतिपादन चतुस्सूत्री करती है। इसके प्रथम सूत्र में ब्रह्म जिज्ञासा की अवतारणा की गयी है। द्वितीय सूत्र में ब्रह्म का जगज्जन्मादि लक्षण बतलाया गया है। तृतीय सूत्र में यह बतलाया गया है कि ब्रह्म का प्रतिपादन शास्त्र ही करता है। चतुर्थ सूत्र में यह बतलाया गया है कि ब्रह्म को ही शास्त्र परम पुरुषार्थ रूप से बतलाते हैं।

ब्रह्म व्यतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या मानने वाले अद्वैती विद्वानों के मत में शास्त्रारम्भ सम्भव नहीं है। क्योंकि उनके मत में वेदान्त शास्त्र का न तो कोई विषय है और न तो कोई प्रयोजन ही। क्योंकि अद्वैत सिद्धान्त के विषय में यह जिज्ञासा होती है कि ये वेदान्त का विषय ब्रह्म को मानते हैं ? अथवा भेद मिथ्यात्व को ? या जीव ब्रह्म की एकता को ?

ब्रह्म को वेदान्त का विषय इसलिए नहीं माना जा सकता है कि वे ब्रह्म को वेद्य मानते ही नहीं हैं। यदि वे कहें कि ब्रह्म का तो व्यावहारिक वेद्यत्व है ही ? तो व्यावहारिक

वैद्यत्व तो घटादि का भी है, अतएव ब्रह्म भी उनके मत में उसी तरह अनुभूति व्यतिरिक्त होगा जिस तरह घट आदि । अतएव उनका यह अनुमान कि-अनुभूति स्वरूप ब्रह्म वस्तुतः वेद्य नहीं है, क्यों कि यह अनुभूति है, जो परमार्थतः वेद्य होता है, वह अनुभूति-व्यतिरिक्त होता है जैसे घट आदि । यह व्यतिरिक्त दृष्टान्त नहीं हो सकता क्यों कि घट आदि में पारमार्थिक वेद्यत्व ही नहीं है ।

यदि यहां पर अद्वैती विद्वान् यह कहें कि यद्यपि ब्रह्म वेद्य है फिर भी वह अनुभूति व्यतिरिक्त नहीं है । तो भी ब्रह्म को शास्त्र का विषय मानना अनुचित ही होगा । क्यों कि उनके मत में प्रत्यक्ष को सन्मात्र का ही ग्राहक माना जाता है । अतएव उस सत्तामात्र का ग्रहण तो प्रत्यक्ष के ही द्वारा हो जाता है । फिर शास्त्र का उसके लिए कौन सा प्रयोजन है । शास्त्र तो अज्ञात विषय का ही बोधन करके सफल होता है । प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात सन्मात्र ब्रह्म का प्रतिपादन करके भी शास्त्र निष्फल ही होगा, अतएव अद्वैती सिद्धान्त में ब्रह्म को वेदान्त शास्त्र का विषय नहीं माना जा सकता है ।

भेद को मिथ्यात्व को भी अद्वैत सिद्धान्त में विषय इस लिए नहीं माना जा सकता है कि क्यों कि विभिन्न घट, पट आदि के ग्राहक प्रत्यक्ष आदि के द्वारा प्रपञ्च की सत्यता प्रतीत होती है उसके विरुद्ध प्रपञ्च के मिथ्यात्व का प्रतिपादन शास्त्र नहीं कर सकता है । किञ्च जिन दृश्यत्व आदि हेतुओं

को आप मिथ्यात्व का कारण मानते हैं उनका तो ज्ञान प्रत्यक्षादि के ही द्वारा हो जाता है ऐसे स्थिति में उन हेतुओं के द्वारा प्रपञ्च सत्यत्व का बांध करके भी शास्त्र सफल नहीं हो सकता है, क्योंकि शास्त्र का स्वभाव है कि वह प्रमाणान्तरा वांछित वस्तु का बाधन तथा प्रमाणान्तरा सिद्धि वस्तु का साधन करके सफल होता है।

यदि कहें कि प्रत्यक्षादि के द्वारा प्रतीयमान जगत् सत्यत्व उसी तरह से भ्रम स्वरूप है जिस तरह कि ज्वाला का प्रतीयमान अभेद। अतएव ही उस प्रत्यक्ष का बांध जिस तरह ज्वाला भेदानुमान के द्वारा होता है। उसी तरह प्रतीयमान घटादि भेद प्रत्यक्षादि का बाध शास्त्र के द्वारा हो जाता है तो ऐसी बात इस लिए उचित नहीं होगी कि— ज्वाला भेदानुमान से प्रत्यक्ष सिद्ध भेद का शास्त्र के द्वारा बाध तीन प्रकार से भिन्न है।

१– अचिर निर्वाचित दीप को जलाने पर उठती हुई ज्वाला को देखकर उसकी भिन्नता की शंका होने पर दीपक के उपादानोपकरणों को अलग-अलग करके जलाने पर उठती भिन्न-भिन्न ज्वालाओं को देखकर अनुमान होता है कि दीपक की निकलती ज्वाला क्षण-क्षण भिन्न-भिन्न ही होती है। किन्तु भेद की वासना दोष युक्त है, यह किसी दूसरे प्रमाण से ज्ञात नहीं है। अतएव भेद की वासना के दोष युक्त सिद्ध होने पर भेद की प्रतीति भ्रम सिद्ध हो सकती है और भेद की प्रतीति की भ्रम रूपता सिद्ध होने पर

ही भेद की वासना दोषात्मक सिद्ध हो सकती है। अतएव शास्त्र के द्वारा प्रपञ्च का बाध मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा।

२- बाध्य ज्वालैक्य ज्ञान सादृश्य दोष मूलक है तथा बाधक ज्वाला भेदानुमान में वह दोष नहीं है। किन्तु बाध्य प्रत्यक्ष भेद तथा बाधक शास्त्र में अद्वैती विद्वान समान रूप से भेद वासना मूलकत्व न.मक दोष मानते हैं। अतएव दोष मूलक शास्त्र दोष मूलक भेद प्रत्यक्ष का बाधक नहीं हो सकता है।

३- किञ्च ज्वाला भेदानुमान के द्वारा अपने मूल प्रमाण ज्वाला प्रत्यक्ष का बाध न होकर ज्वालैक्य मात्र का बाध होता है किन्तु शास्त्र प्रमाण के द्वारा तो शब्द नामक धर्मी के ग्राहक उसके निर्दोषत्व के साधक लिङ्ग ग्राहक; लिङ्ग और लिङ्गी के बीच होने वाली व्याप्ति के ग्राहक, तथा षड् विधि-तात्पर्यकेग्राहक तथा उनके तात्पर्य लिङ्गों के ग्राहक प्रत्यक्ष का बाध मानने पर तो फिर शास्त्र का मूलोच्छेदही हो जायेगा।

जीव एवं ब्रह्म की एकता को भी अद्वैती विद्वान वेदान्त का विषय नही मान सकते हैं क्यों कि इस कल्प में भी जीव के साथ-साथ ब्रह्म भी वेदान्त वेद्य बन जायेगा। क्यों कि शास्त्रों में घट और पट की एकता का तो प्रतिपादन किया नहीं जाता है बल्कि जीव और ब्रह्म की ही एकता बतलायी

जाती है। अतएव जब तक ब्रह्म शब्द के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं होगा तब तक कैसे जीव और ब्रह्म की एकता को वेदान्त का विषय माना जा सकता है? जीव एक ही है। इतना ही कह देने मात्र से तो जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध हो नहीं जाती है। यदि कहें कि जीव और ब्रह्म की एकता के प्रतिपादक 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म शब्द ब्रह्म का बोधक है तब तो फिर प्रधान रूप से ब्रह्म का शास्त्र प्रतिपाद्यत्व स्वीकार करना चाहिये। ऐसा मानने पर 'सर्वे वेदायत्पद-मामनन्ति' 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इत्यादि वाक्यों स्वारस्य का भी निर्वाह हो जायेगा।

किञ्च-ऐकात्म्य के प्रति पादक वाक्यों में उपदिश्यमान एकता-ब्रह्म स्वरूप रूप ही है अथवा उससे भिन्न? स्वरूप से अभिन्न मानने पर उसे ही वेद्य भी मानना होगा तथा उपदिश्यमान एकता भी व्यर्थ होगी, क्योंकि उससे स्वरूप मात्र की ही प्रतीति होगी। यदि उसे स्वरूप से अतिरिक्त माना जाय तो फिर उस स्वरूप व्यतिरिक्त एकता को परमार्थ मानने पर निर्विशेष भङ्ग होगा तथा अपरमार्थ मानने पर जीव और ब्रह्म का भेद उसी तरह परमार्थ सिद्ध हो जायेगा जिस तरह देहात्मैक्य, ऐकात्म्य इत्यादि के अपरमार्थ मानने के कारण आत्मभेद, देहात्म भेद आदि के पारमार्थ्य की सुतरां सिद्धि हो जाती है।

इस तरह अद्वैत सिद्धान्त में वेदान्त शास्त्र का कोई विषय नहीं बतलाया जा सकता है। फलतः विषयाभाव के कारण वेदान्त शास्त्र अनारम्भणीय है।

अद्वैत सिद्धान्त में वेदान्त का कोई प्रयोजन भी नही बतलाया जा सकता है। क्योंकि शास्त्र का प्रयोजन दो प्रकार का होता है- १) शास्त्र का उपायभूत अवान्तर प्रयोजन एवं, (२) तत् शास्त्र साध्य भूत प्रधान प्रयोजन। इन दोनों में बन्ध के निवर्तक ज्ञान की प्राप्ति अवान्तर प्रयोजन है और मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। किन्तु अविद्या निर्वतक ज्ञान से अद्वैत सिद्धान्त में आज तक किसी को ज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ। क्योंकि उस ज्ञान के उत्पन्न होने पर बन्ध का नाश हो जाना चाहिये था। किन्तु अद्वैध सिद्धान्त में व्यास, पराशर, मनु, शुकदेव कोई भी मुक्त नहीं है। और अब तक किसी को वह अविद्या निर्वतक ज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ तो आगे चलकर कभी वह उत्पन्न होगा इसकी क्या आशा की जा सकती है? किञ्च अवान्तर प्रयोजन रूप निवर्तक ज्ञान की उत्पत्ति के अभाव में चरम प्रयोजन की प्राप्ति बिल्कुल असिद्ध है। अतएव प्रयोजन के अभाव में भी अद्वैत सिद्धान्त में शास्त्रारम्भ अनुचित है।

किञ्च अद्वैत सिद्धान्त में शास्त्र श्रवण का अधिकार किसको है? ज्ञान मात्र आत्मा को? अथवा ज्ञाता को? श्रोता न हो हो सकने के कारण ज्ञान मात्र तो अधिकारी हो नहीं सकता है

और ज्ञाता इसलिए वेदान्तशास्त्र का अधिकारी नहीं बन सकता है कि वेदान्त शास्त्र तो ज्ञातृत्व का विनाशक है। अतएव वेदान्त श्रवण करके वह अपना विनाश करने के लिए कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता है, क्योंकि स्वनाश कभी पुरुषार्थ नहीं बन सकता है। सबों की मोक्षार्थ प्रवृत्ति इसलिए होती है कि हम सर्वदा के लिए सर्वथा दुःखों का दूर करके सुखी बन जायें न कि अपने विनाश के लिए किसी भी कार्य में प्रवृत्ति होती है। अतः अद्वैत सिद्धान्त में वेदान्त शास्त्र का अधिकारी भी नहीं सिद्ध हो सकता है।

किञ्च अद्वैत सिद्धान्त में चतुस्सूत्री का कोई सूत्र भी नहीं संघटित हो सकता है। चतुस्सूत्री का प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' है। इस सूत्र के अथ शब्द का अर्थ करते हुए अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि अथ शब्द का अर्थ है नित्यानित्य वस्तु विवेक, शमदमादि साधन सम्पत्ति; इहामुत्रार्थ फलभोग विराग एवं मुमुक्षुत्व के पश्चात्। किन्तु यह अर्थ मानना इस लिए उचित नहीं होगा कि–शास्त्रान्तर जन्य नित्यानित्य वस्तु विवेक वेदान्त शास्त्र विरोधी का होगा। क्योंकि शास्त्रान्तर के ही मोक्षोपाय का उपदेशक होने पर वेदान्त शास्त्र निष्प्रयोजन हो जायेगा। नित्यानित्य वस्तु विवेक की आपात प्रतीति तो साधारण होने के कारण वह केवल वेदान्ताध्ययन का ही कारण बने यह नहीं कहा जा सकता है। इतिहास पुराण के भी संशय

विपर्यय ग्रस्त होने के कारण तज्जन्य नित्यानित्य वस्तु विवेक भी त्रिवर्ग की जिज्ञासा का कारण नहीं बन सकता है। फलतः यह ब्रह्म विचार का कारण नहीं हो सकने के कारण 'अतः' शब्द का भी अर्थ उपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि वे अतः शब्द का अर्थ 'साधन चतुष्टय सम्पत्तेरेव हेतोः" मानते हैं। यदि वे कहें कि—नित्य वस्तु ही ग्राह्य है यथा अनित्य वस्तु त्याज्य है। इस प्रकार का ज्ञान ही नित्यानित्य विवेक कहलाता है—तो फिर वेदान्तों में नित्य वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है यह ज्ञात होने पर वेदान्त का अध्ययन संभव है तथा वेदान्त का अगर अध्ययन कर लेने पर ही यह ज्ञान सम्भव है कि वेदांतों में नित्य वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा। किञ्च शास्त्रान्तरों में भी नित्य पुरुषार्थ की सम्भावना होने से ब्रह्म विचार का यह नियतपूर्व कारण नहीं बन सकता है। क्योंकि इस बात का निश्चय तो वेदान्त के तर्क पाद में जाकर होता है कि शास्त्रान्तर में नित्यानित्य पदार्थ का निश्चय नहीं हो पाता है।

यदि कहें कि आचार्योपदेश से ही ज्ञात हो जाता है कि वेदान्तों में नित्यानित्य वस्तु का विवेक है तदितर शास्त्रों में नहीं, तो फिर आचार्योपदेश के ही द्वारा ब्रह्मोपासना संभव हो जाने के कारण शारीरक शास्त्र में प्रवृत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। किञ्च जीव ब्रह्म की एकता को शास्त्र का

विषय मानने वाले अद्वैतियों के मत में ब्रह्म जिज्ञासा पद का भी अन्वय सम्भव नहीं है क्योंकि जिस तरह 'धर्म जिज्ञासा' पद धर्म एवं अधर्म दोनों को जिज्ञास्य न बतलाकर केवल धर्म को ही जिज्ञास्य बतलाता है, उसी तरह 'ब्रह्म जिज्ञासापद' जीव एवं ब्रह्म दोनों को जिज्ञास्य न बतलाकर केवल ब्रह्म को ही जिज्ञास्य बतलाता है।

चतुस्सूत्री का दूसरा सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' है। यह सूत्र ब्रह्म का जगज्जन्मादिकर्तृस्वरूप लक्षण बतलाता है। निर्विशेष ब्रह्म वादियों के मत में ब्रह्म का जगज्जन्मादि लक्षण बतलाना ब्रह्म को सविशेष ही सिद्ध करना होगा। इस मतमें चतुस्सूत्री के तृतीय सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' का भी संघटन सम्भव नहीं है। क्योंकि निर्विशेष वस्तु में वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य मानने वालों के मत में कारणत्वाक्षिप्त सार्वज्ञ आदि का कोई उपयोग नहीं। अतएव यह सूत्र निर्विशेष सिद्धान्त के विपरीत फल प्रदान करने वाला है।

चौथे सूत्र 'तत्तु समन्वयात्' में भी ब्रह्म की प्रधानता बतलायी जाती है। किन्तु "शास्त्रयोनित्वात्" सूत्र का ब्रह्म सम्बन्धी निर्देश नहीं माने जाने के कारण तत् शब्द का स्वारस्य ब्रह्म में नहीं माना जा सकता है। इस तरह अद्वैत सिद्धांत में पूर्ण रूप से चतुस्सूत्री अनुपपन्न हो जाती है।

प्रस्तुत श्री भाष्य खण्ड का प्रारम्भ समन्वयाधिकरण से होता है। इस अधिकरण में पूर्व पक्षी के रूप में दो प्रकार के अद्वैत विद्वानों के मत का प्रत्याख्यान किया गया है। (१) निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी और (२) ध्यान नियोगवादी।

सर्व प्रथम श्री भाष्यकार स्वामी ने निष्प्रपञ्चीकरण नियोग-वादी के मत का अनुवाद किया है। निष्प्रपञ्चीकरण नियोग वादी अद्वैती विद्वानों का कहना है कि—वेदान्तों के विधि वाक्य भी कार्य परक होने के ही कारण ब्रह्म में प्रमाण बनते हैं। जो प्रपञ्चरहित अद्वितीय ज्ञानमात्र ब्रह्म अनादि अविद्या के कारण प्रपञ्च युक्त रूप से प्रतीत हो रहा है उसका निष्प्रपञ्च बनाते हैं। पुनः मीमांसकों द्वारा निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी के मत का खण्डन उपस्थित किया जाता है। इसके बाद मीमांसक के मत के खण्डन पूर्वक विधिवाक्यों द्वारा ब्रह्म के ध्यान का प्रति पादन करने वाले अद्वैती विद्वानों (ध्यान नियोगवादी) के मत को उपस्थित किया गया है। और ध्यान नियोगवादियों के मत खण्डन स्वयं सिद्धान्तों से किया गया है। फिर सूत्र-काराभिमत अधिकरण की रचना के साथ चतुस्सूत्री का समापन होता है।

इक्षत्यधिकरण में प्रकृति के जगत् कारणत्व की शंका करके उसका खण्डन किया गया है। सांख्य मतावलम्बी के अनुसार जगत् का उत्पादन कारण प्रकृति है। उसी को प्रधान अव्यक्त, आनुमानिक इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है। प्रकृति किसी का जन्य नहीं है और महदादि की जनिका है। प्रकृति से महान, महान् से अहंकार और अहंकार से पञ्च-तन्मात्राएँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ पञ्च महाभूत, और मन उत्पन्न होते हैं। ज्ञ (पुरुष) तत्त्व न तो किसी का जनक है और न तो किसी का जन्य। अतएव यह असङ्ग है। प्रकृति का पुरुष से सम्बन्ध हो जाने के कारण संसार की सृष्टि होती है।

सांख्य मतावलम्बियों का कहना है कि 'सदेव' सोम्येद

मग्रासीत्' इत्यादि श्रुति के द्वारा सत् शब्द से उसी प्रकृति का अभिधान होता है। इस सिद्धान्तों का कहना है कि सृष्टि प्रकरण में सत् शब्दाभिधेय कारण तत्त्व का चेतन में पाये जाने वाले ईक्षण व्यापार पुरस्सर जगत् की सृष्टि 'स ऐक्षत' इत्यादि श्रुतियों में सुनी जाती है। इस पर सांख्य मतावलम्बी यह कहा करते हैं कि जिस तरह 'ता आप ऐक्षन्त' 'पृथिवी आयोचत' इत्यादि श्रुतियों में जड जल, पृथिवी आदि के लिए गौड़ ईक्षण व्यापार देखा जाता है, उसी तरह यहां भी सत् शब्द वाच्य करण तत्त्व का ईक्षण व्यापार गौड ही समझना चाहिये। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसी बात इस लिए नहीं है कि कारण तत्व का ईक्षण व्यापार बतला कर उसी को आत्मा शब्द से भी अभिहित किया गया है। पुनः उसी की उपासना का फल श्रुतियां मोक्ष बतलाती हैं। तथा प्रकृति को श्रुतियां हेय बतलाते हुए कहती हैं कि विद्या प्राप्त मुमुक्षु जीव की मुक्ति में शरीर सम्बन्ध की समाप्ति मात्र का ही विलम्ब रहता है। किञ्च प्रकृति को जगत् का कारण मानने पर सद् विद्योक्त एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का विरोध भी होगा। तदात्मक नहीं होने के कारण प्रधान ज्ञान से चेतन का ज्ञान होना असम्भव है। 'हन्ताहम्' इत्यादि श्रुतियां तो यही बतलाती हैं कि परमात्मा अपने सत्य संकल्प द्वारा जगत् की सृष्टि करके जीव के साथ-साथ स्वयं उनके भीतर प्रवेश करके उनके नाम एवं रूप का विभाग किया। किञ्च 'ऐतात्म्य मिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियाँ जगत् को ब्रह्मात्मक ही बतलाती हैं। अतएव ब्रह्म ही जगत् कारण और सदादि शब्दाभिधेय है।

इस खण्ड में सर्व प्रथम श्री वरवर मुनि स्वामी जी की तनया दी गयी है। श्री वरवर मुनि स्वामी और श्री रामानुज स्वामी में अत्यधिक साम्य के साथ-साथ ये दोनों आचार्य श्री विशिष्टाद्वैत दर्शन के महान् प्रवर्तक हैं।

आज से करीब ६०८ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के श्री कुरुकापुरी नामक नगरी में श्री वरवर मुनि स्वामी जी का अवतार हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्री जिह्वायदधीश दास था। आपके आचार्य श्री शैलपूर्णनाथाचार्य स्वामी जी थे। उन्हीं के सन्निकट में आपने सामान्य तथा विशेष सभी शास्त्रों का अध्ययन किया था। यद्यपि आप थोड़े ही दिनों में सभी शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान् हो गये किन्तु अपने आचार्य की विशेष आज्ञा प्राप्त कर आपने वाद वेदान्त का प्रवर्तन प्रवर्धन न कर केवल द्राविड वेदान्त के ही पूर्ण प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठाया। अपने आचार्य की ही आज्ञा पाकर आपने श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी का मन्दिर निर्माण कराया और श्री रामानुज स्वामी जी के मूर्ति की स्थापना कराया।

एक बार शरणागति गद्य के 'श्रीरंगेसुखमास्व' इस वाक्य के अर्थ का अनुसंधान करते हुए आपको तीव्र उत्कण्ठा भौम वैकुण्ठ श्री रङ्गम पधारने की हुई। आप यहां आकर सन्यास ग्रहण कर लिए और अपने जीवन के शेष दिनों को श्री रङ्गनाथ भगवान की सेवा में व्यतीत किये।

एक बार भक्तों के विशेष आग्रह पर आप श्री रंगनाथ भगवान के कालक्षेप मण्डप में श्री भगवद्विषय का प्रवचन सुना रहे थे। वर्ष के अन्त में जब कि भगवद्विषय का प्रवचन समाप्त हो रहा था। उसी समय श्री रंगनाथ भगवान् एक पञ्चवर्षीय

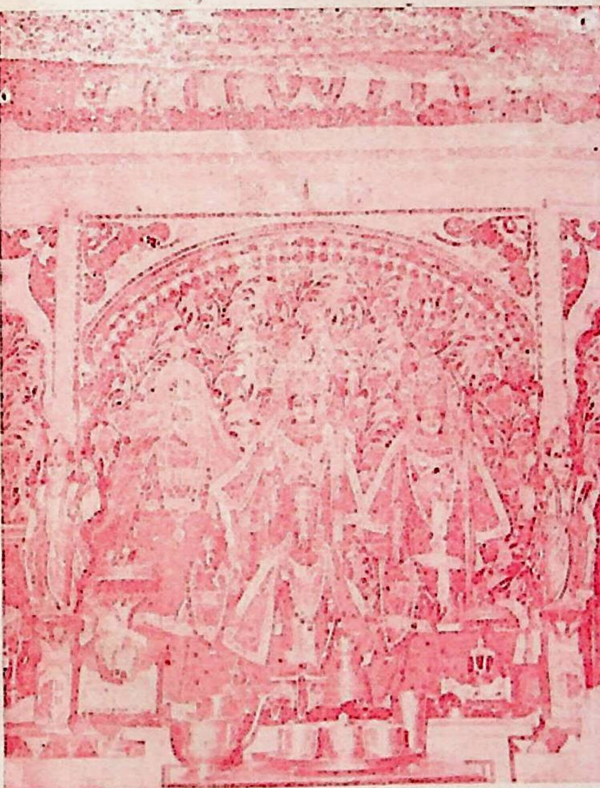
बालक का रूप बनाकर उपस्थित हो गये तथा उनकी स्तुति रूप निम्न पद्य रत्न का पाठकर श्री वरवर मुनि को साष्टांग प्रणिपात कर, सबों को देखते ही देखते अन्तर्धान हो गये। वह पद्य रत्न है:—

श्री शैलेश दयापात्रं धीभक्त्यादि गुणार्णवम् ।
यतीन्द्र प्रवणं वन्दे रम्यजामातरं मुनिम् ॥

श्री वरवर मुनि स्वामी जी ने अपने जीवन काल में निम्न ग्रन्थों का निर्माण किया—

यतिराज विंशति, श्री देवराज मंगल, श्री गीता तात्पर्य दीप, दिव्यदेश मंगलाशासन पद्यमाला, भगवद्विषय प्रमाण संग्रह तथा ज्ञानसार प्रमेयसार प्रमाण योजना। आपके ये सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा के हैं। आपने मणि प्रवाल भाषा में निम्न चार ग्रन्थों की रचना की-(१) मुमुक्षुप्पडि व्याख्या (२) तत्त्वत्रय व्याख्या (३) श्री वचन भूषण व्याख्या तथा (४) आचार्य हृदय व्याख्या। द्रविड भाषा में आपके निम्न ग्रन्थ उपलब्ध हैं—उपदेश रत्नमाला, तिरुवायमोलि नूत्तंदादि आदि प्रबन्ध तथा भगवदाराधन प्रयोग। इसके अतिरिक्त आपके कतिपय और ग्रन्थ हैं।

श्री वरमुनि स्वामी जी ने श्री विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की ठीक-ठीक व्यवस्था चलाने के लिए उसके आठ आचार्यों को आठ गद्दियां प्रदान की और उन विद्वान शिष्यों को श्री विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का देश व्यापी प्रचार करने का आदेश दिया। श्री वरवरमुनि स्वामी जी को श्री रामानुजाचार्य स्वामी जी के ही समान शेषावतार माना जाता है।



श्री भगवान कोसलेश सदन कटरा; अयोध्या ।

श्रीः

श्रीमते रामानुजाय नमः   श्रीवादिभीकर महागुरवे नमः

॥ हिन्दी श्रीभाष्य ॥

(सप्तम भाग)

श्रीशैलेशदयापात्रं धीभक्त्यादि गुणार्णवम्
यतीन्द्रप्रवणं वन्दे रम्यजामातरं मुनिम् ॥

॥ समन्वयाधिकरण का प्रारम्भ ॥

सू०-यद्यपि प्रमाणान्तरागोचरं ब्रह्म । तथापि प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वाभावेन सिद्धरूपं ब्रह्म न शास्त्रं प्रतिपादयतीत्याह—

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

प्रसक्ताशंकानिवृत्यर्थः तु शब्दः । तत् शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवत्येव, । कुतः? समन्वयात् = परमपुरुषार्थतयाऽन्वयः समन्वयः, परमपुरुषार्थभूतस्यैव ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वयात् । एवमिव समन्वितो ह्यौपनिषदः पदसमुदायः । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३।१) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) 'तदैक्षत

बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत' (छा० उ० ६।२।३) 'ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्' (बृ० उ० ३।२।१२) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ० उ० १।१ ।१) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' (बृ० ३।२।११) 'एको ह वै नारायण आसीत्' (ऐ० १।१) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० ३।१) 'आनन्दो ब्रह्म' इत्येवमादिः । न च व्युत्पत्तिसिद्धपरिनिष्पन्न वस्तु प्रतिपादन समर्थानां पदसमुदायानाम–खिलजगदुत्पत्ति स्थिति विनाश हेतुभूताशेषदोषप्रत्यनीकापरिमितोदारगुणसागरानवाधिकातिशयानन्दस्व—रूपे ब्रह्मणि समन्वितानां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप प्रयोजन—विरहाद् अन्यपरत्वं, स्वविषयावबोध पर्यवसायित्वं तु सर्वप्रमाणानाम् । न च प्रयोजनानुगुणा प्रमाणप्रवृत्तिः; प्रयोजनं हि प्रमाणानुगुणम् । न च प्रवृत्ति निवृत्त्य-न्वय विरहिणः प्रयोजनशून्यत्वम् पुरुषार्थान्वयप्रतीतेः । तथा स्वरूपपरेष्वपि—'पुत्रस्ते जातो, नायं सर्पः' इत्यादिषु हर्षभय निवृत्ति रूप प्रयोजनवत्त्वं दृष्टम् ॥

सङ्गति–जिस तरह मिट्टी के द्वारा घट बन सकता है, कुम्भकार उसको बनाने में समर्थ भी है, फिर भी घट निर्माण के के लिए दण्ड, चक्र चीवर आदि सहकारियों की अपेक्षा होती ही है, उसी तरह यद्यपि शब्द, सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन कर सकते हैं और ब्रह्म भी शब्द के द्वारा ज्ञात हो सकता है फिर भी ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बुभुत्सा रूपी परिकर अपेक्षित है, क्योंकि बुभुत्सा (जानने की इच्छा) के बिना प्रयास ही नहीं सम्भव है। और उसके लिए आवश्यकता इस बात की होगी कि ब्रह्म अज्ञात एवं पुरुषार्थ रुप हो। इसके लिए सूत्रकार ने पहले 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र के द्वारा शब्दद्वारक शक्तिमत्त्व का प्रतिपादन और दूसरे 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र से अर्थ द्वारक शक्तिमत्त्व का प्रतिपादन किया है। इसके बाद तीसरे सूत्र से ब्रह्म के अज्ञातत्व रूप बुभुत्सा का कारण बतलाया गया है और सूत्र में बुभुत्सा के प्रयोजन को बतलाया गया है।

अनुवाद–यद्यपि शास्त्र व्यतिरिक्त प्रमाणों का विषय ब्रह्म नहीं बनता है फिर भी प्रवृत्ति निवृत्ति रूप प्रयोजन के नहीं होने से सिद्ध रूप ब्रह्म का प्रतिपादन शास्त्र नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार की आशङ्का करके सूत्रकार उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि–

'तत्तु समन्वयात्' ४-(अर्थात् ब्रह्म का प्रतिपादन शास्त्र करते ही है क्योंकि शास्त्रों में ब्रह्म का ही परमपुरुषार्थ रुप से

अभिधान होता है। इस सूत्र का अर्थ करते हुए श्री भाष्यकार स्वामी कहते हैं कि) ब्रह्म के शास्त्राप्रतिपाद्यत्व रूप शङ्का का अपनोदन करने के लिए सूत्र में तु पद का प्रयोग किया गया है। तत् = ब्रह्म के विषय में शास्त्र की प्रमाणरूपता सिद्ध होती है, क्योंकि, समन्वयात् = परम पुरुषार्थ रूप से होने वाले अन्वय को समन्वय कहते हैं। परम पुरुषार्थ भूत ही ब्रह्म का वेदाभिधेय रूप से अन्वय होता है। क्योंकि-उपनिषद् के वाक्य समुदाय का परमपुरुषार्थ भूत ब्रह्म में प्रतिपादन रूप से अन्वय होता ही है। वे वाक्य हैं- १-तैत्तिरीय श्रुति ब्रह्म को कारण रूप से प्रतिपादन करती हुई कहती है। 'जिस ब्रह्म से ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं' २-छान्दोग्योपनिषद् की श्रुति ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान रूप से प्रतिपादन करती हुई कहती है कि ब्रह्म ने अपने सत्य संकल्प से तेज आदि की सृष्टि की। हे सोमरस पानार्ह सच्छिष्य श्वेतकेतो ! सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् एक एवं अद्वितीय सत् शब्द वाच्य परब्रह्म रूप ही था।' 'उस सत् शब्द वाच्य परा देवता ने सोचा मैं एक से अनेक हो जाऊँ तदर्थ प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होऊँ, इस तरह सोचकर उसने अपने सत्य संकल्प से तेज की सृष्टि की।' निश्चय ही यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टि से पूर्व ब्रह्म स्वरूप ही था।' (यह बृहदारण्यकोपनिषद् की श्रुति बतलाती है कि कारणत्वेनोक्त सच्छब्द वाच्य परा देवता ही ब्रह्म पद वाच्य है। यही ब्रह्म को कारण रूप से बतलाकर आत्मा

शब्द से अभिधान करती हुई ऐतरेय श्रुति कहती है कि) निश्चय ही सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत केवल आत्मा पद वाच्य परंब्रह्म रूप ही था । (ऐसे ही एक श्रुति बतलाती है कि) उस प्रसिद्ध आत्मा शब्द वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ । 'सृष्टि से पूर्व अकेले नारायण ही थे' । यह श्रुति छाग पशुत्याय से सत, आत्मा, ब्रह्म आदि सामान्य शब्दों का पर्यवसान विशेष नारायण शब्द में ही बतलाती है । क्योंकि नारायण ब्रह्म का असाधारण नाम है । नारायण पद की सिद्धि संज्ञा अर्थ में ही 'पूर्व पदात् संज्ञायामगः' सूत्र से अयन के नकार को णकार होकर होती है ।) वह ब्रह्म सत्य स्वरूप ज्ञान स्वरूप एवं अनन्तस्वरूप ही है । 'यह ब्रह्म स्वतः इष्ट एवं आश्रित जनानुकूल होने के कारण आनन्द स्वरूप ही है' । ये सभी वाक्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं ।

व्युत्पत्तिसिद्ध सिद्ध वस्तु ब्रह्म के भी प्रतिपादन करने में समर्थ तथा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति स्थिति (पालन) और विनाश के कारण भूत, अखिलहेयप्रत्यनीक, असीमित, उदारगुण सागर सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरुप ब्रह्म में प्रतिपादक रुप से समन्वित वाक्यों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप प्रयोजन के अभाव में ब्रह्म के प्रतिपादन में तात्पर्य का अभाव नहीं माना जा सकता है । क्योंकि सभी प्रमाणों का पर्यवसान अपने विषयों के ज्ञान कराने में ही होता है ।

यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी प्रमाणों की प्रवृत्ति

प्रयोजन के अनुकूल हुआ करते है। बल्कि प्रयोजन ही प्रमाणों के अनुसार हुआ करते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उपनिषद् वाक्यों का चूंकि प्रवृत्ति-निवृत्ति से संबन्ध नहीं होता है, अतएव वे प्रयोजन शून्य हैं क्योंकि उनमें पुरुषार्थ का सम्बन्ध देखा जाता है। इस तरह स्वरूप के प्रतिपादक 'तुमको पुत्र उत्पन्न हुआ' 'यह सर्प नहीं है' इत्यादि लौकिक वाक्यो में भी सर्प एवं सर्प के भय की निवृत्तिरूप प्रयोजन युक्तता देखी जाती है। (कहने का आशय यह है कि जिस तरह प्रवृत्ति परत्व अथवा निवृत्ति परत्व प्रयोजन के पर्यवसायी नहीं होते, अपितु उसके लिए पुरुषार्थ परत्व अपेक्षित होता है। उसी तरह प्रवृत्ति निवृत्ति परत्व अथवा सिद्ध परत्व का प्रयोजन में पर्यवसान न होकर वाक्य का सिद्ध अथवा साध्य भूत पुरुषार्थ से अन्वित होना मात्र ही उसके प्रयोजन में पर्यवसान होने का सूचक है। इस तरह से संक्षेप्त सूत्रार्थ वर्णित हुआ।

॥ पूर्व पक्ष ॥

॥ अधिकरणपूर्वपक्षी मीमांसकों का मत ॥

मू०-अत्राह—न वेदान्तवाक्यानि ब्रह्म प्रतिपादयन्ति; प्रवृत्ति निवृत्त्यन्वय विरहिणः शास्त्रस्यानर्थक्यात्। यद्यपि प्रत्यक्षादीनि, वस्तु याथात्म्यावबोधे पर्यवस्यन्ति, तथापि शास्त्रं प्रयोजनपर्यवसायेव। न हि

शब्द से अभिधान करती हुई ऐतरेय श्रुति कहती है कि)
निश्चय ही सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् केवल आत्मा पद
वाच्य परब्रह्म रूप ही था । (ऐसे ही एक श्रुति बतलाती है कि)
उस प्रसिद्ध आत्मा शब्द वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ ।
'सृष्टि से पूर्व अकेले नारायण ही थे' । यह श्रुति छाग पशुन्याय
से सत: आत्मा, ब्रह्म आदि सामान्य शब्दों का पर्यवसान विशेष
नारायण शब्द में ही बतलाती है । क्योंकि नारायण ब्रह्म का
असाधारण नाम है । नारायण पद की सिद्धि संज्ञा अर्थ में ही
'पूर्व पदात् संज्ञायामगः' सूत्र से अयन के नकार को णकार
होकर होती है ।) वह ब्रह्म सत्य स्वरूप ज्ञान स्वरूप एवं अनन्तस्वरूप ही है । 'वह ब्रह्म स्वतः इष्ट एवं आश्रित जनानुकूल
होने के कारण आनन्द स्वरूप ही है । ये सभी वाक्य ब्रह्म का
प्रतिपादन करते हैं ।

व्युत्पत्तिसिद्ध सिद्ध वस्तु ब्रह्म के भी प्रतिपादन करने में
समर्थ तथा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति स्थिति (पालन) और
विनाश के कारण भूत, अखिलहेयप्रत्यनीक, असीमित,
उदारगुण सागर सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्द स्वरूप ब्रह्म में
प्रतिपादक रूप से समन्वित वाक्यों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति
रूप प्रयोजन के अभाव में ब्रह्म के प्रतिपादन में तात्पर्य का
अभाव नहीं माना जा सकता है । क्योंकि सभी प्रमाणों का
पर्यवसान अपने विषयों के ज्ञान कराने में ही होता है ।

यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी प्रमाणों की प्रवृत्ति

प्रयोजन के अनुकूल हुआ करती है। बल्कि प्रयोजन ही प्रमाणों के अनुसार हुआ करते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उपनिषद् वाक्यों का चूँकि प्रवृत्ति-निवृत्ति से संबन्ध नहीं होता है, अतएव वे प्रयोजन शून्य हैं क्योंकि उनमें पुरुषार्थ का सम्बन्ध देखा जाता है। इस तरह स्वरूप के प्रतिपादक 'तुमको पुत्र उत्पन्न हुआ' 'यह सर्प नहीं है' इत्यादि लौकिक वाक्यों में भी सर्प एवं सर्प के भय की निवृत्तिरूप प्रयोजन युक्तता देखी जाती है। (कहने का आशय यह है कि जिस तरह प्रवृत्ति परत्व अथवा निवृत्ति परत्व प्रयोजन के पर्यवसायी नहीं होते, अपितु उसके लिए पुरुषार्थ परत्व अपेक्षित होता है। उसी तरह प्रवृत्ति निवृत्ति परत्व अथवा सिद्ध परत्व का प्रयोजन में पर्यवसान न होकर वाक्य का सिद्ध अथवा साध्य भूत पुरुषार्थ से अन्वित होना मात्र ही उसके प्रयोजन में पर्यवसान होने का सूचक है। इस तरह से संक्षेपत सूत्रार्थ वर्णित हुआ।

॥ पूर्व पक्ष ॥

॥ अधिकरणपूर्वपक्षी मीमांसकों का मत ॥

मू०-अत्राह—न वेदान्तवाक्यानि ब्रह्म प्रतिपादयन्ति; प्रवृत्ति निवृत्त्यन्वय विरहिणः शास्त्रस्यानर्थक्यात्। यद्यपि प्रत्यक्षादीनि, वस्तु याथात्म्यावबोधे पर्यवस्यन्ति, तथापि शास्त्रं प्रयोजनपर्यवसायेव। न हि

लोकवेदयोः प्रयोजन रहितस्य कस्यचिदपि वाक्यस्य प्रयोग उपलभ्यत्तरः । न च किञ्चित् प्रयोजनमनुद्दिश्य वाक्यप्रयोगः श्रवणं वा सम्भवति । तच्च प्रयोजनं प्रवृत्ति निवृत्तिसाध्येष्टानिष्टप्राप्ति परिहारात्मकमुपलब्धम्, 'अर्थार्थी राजकुलं गच्छेत्' 'मन्दाग्निर्नाम्बु पिबेत्' 'स्वर्गकामो यजेत' 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्येवमादिषु । यत्पुनः सिद्धवस्तुपरेष्वपि; 'पुत्रस्ते जातः' 'नायं सर्पो रज्जुरेषा' इत्यादिषु हर्ष भय निवृत्तिरूप पुरुषार्थान्वयो दृष्ट इत्युक्तम् । तत्र किं पुत्र जन्माद्यर्थात् पुरुषार्थावाप्तिः? उत तज्ज्ञानात्? इति विवेचनीयम् । सतोऽप्यज्ञातस्यार्थस्यापुरुषार्थत्वेन तज्ज्ञानादिति चेत् तर्ह्यसत्यप्यर्थे ज्ञानादेव पुरुषार्थः सिद्ध्यतीत्यर्थपरत्वाभावेन प्रयोजन पर्यवसानमिति कस्यापि वाक्यस्य परिनिष्पन्ने वस्तुनि तात्पर्यासम्भवान्न वेदान्ताः परिनिष्पन्नं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति ।

अनु०-उपर्युक्त प्रकार से अधिकरणार्थ के कहे जाने के पश्चात् अपना अवसर पाकर पूर्वपक्षी कहता है-वेदान्त वाक्य ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करते हैं; क्योंकि प्रवृत्ति निवृत्ति रूप

सम्बन्ध से रहित शास्त्र निरर्थक होते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का पर्यवसान वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान कराने में ही जाता है फिर भी शास्त्रों का पर्यवसान भी प्रयोजन के बोधन में ही होता है [क्योंकि शास्त्र का अर्थ प्रशासन परत्व और वह प्रशासन प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप होता है। शास्त्रों का लक्षण करते हुए बतलाया भी गया है कि-जो अधिकारी पुरुषों को नित्य अथवा साध्य रूप से प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का उपदेश देता है उसे शास्त्र कहते हैं।

'प्रवृत्ति र्वा निवृत्ति र्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसा येनपदिश्येत तच्छास्त्रं तूपपद्यते॥") (८-० प्र०)

क्योंकि अब तक लोक अथवा वेद में किसी प्रयोजन रहित वाक्य की उपलब्धि नहीं हुई है। न तो विना किसी भी प्रयोजन को उद्देश्य बनाये किसी वाक्य का प्रयोग संभव है और न तो श्रवण संभव है। और उन वाक्यों का प्रयोजन जो होता है वह प्रवृत्ति साध्य इष्ट की प्राप्ति रूप एवं निवृत्ति साध्य अनिष्ट का परिहार रूप होता है। यह निम्न वाक्यों के देखने से पता चलता है– धन को चाहने वाला राजकुल में जाय।' (इस वाक्य का प्रयोजन राजकुल में गमन रूप प्रवृत्ति साध्य इष्ट धन की प्राप्ति रूप है।) 'मन्दाग्नि वाला व्यक्ति जल न पिये' (इस वाक्य का प्रयोजन पानी की निवृत्ति साध्य अनिष्ट मन्दाग्नि रोग का परिहार है।) इसी तरह निम्न दो वाक्यों में भी देखना चाहिये।] स्वर्ग को चाहने वाला यज्ञ

लोकवेदयोः प्रयोजन रहितस्य कस्यचिदपि वाक्यस्य प्रयोग उपलब्धचरः । न च किञ्चित् प्रयोजनमनुद्दिश्य वाक्यप्रयोगः श्रवणं वा सम्भवति । तच्च प्रयोजनं प्रवृत्ति निवृत्तिसाध्येष्टानिष्टप्राप्ति परिहारात्मकमुपलब्धम्, 'अर्थार्थी राजकुलं गच्छेत्' 'मन्दाग्निर्नाम्बु पिबेत्' 'स्वर्गकामो यजेत' 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्येवमादिषु । यत्पुनः सिद्धवस्तुपरेष्वपि, 'पुत्रस्ते जातः' 'नायं सर्पो रज्जुरेषा' इत्यादिषु हर्षं भय निवृत्तिरूप पुरुषार्थान्वयो दृष्ट इत्युक्तम् । तत्र किं पुत्र जन्माद्यर्थात् पुरुषार्थावाप्तिः? उत तज्ज्ञानात्? इति विवेचनीयम् । सतोऽप्यज्ञातस्यार्थस्यापुरुषार्थत्वेन तज्ज्ञानादिति चेत् तर्ह्यसत्यप्यर्थे ज्ञानादेव पुरुषार्थः सिद्ध्यतीत्यर्थपरत्वाभावेन प्रयोजन पर्यवसानमिति कस्यापि वाक्यस्य परिनिष्पन्ने वस्तुनि तात्पर्यासम्भवान्न वेदान्ताः परिनिष्पन्नं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति ।

अनु०-उपर्युक्त प्रकार से अधिकरणार्थ के कहे जाने के पश्चात् अपना अवसर पाकर पूर्वपक्षी कहता है-वेदान्त वाक्य ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करते हैं; क्योंकि प्रवृत्ति निवृत्ति रूप

सम्बन्ध से रहित शास्त्र निरर्थक होते हैं।यद्यपि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का पर्यवसान वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान कराने में हो जाता है फिर भी शास्त्रों का पर्यवसान भी प्रयोजन के बोधन में ही होता है [क्योंकि शास्त्र का अर्थ प्रशासन ग्रन्थ और वह प्रशासन प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप होता है। शास्त्रों का लक्षण करते हुए बतलाया भी गया है कि जो अधिकारी पुरुषों को नित्य अथवा साध्य रूप से प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का उपदेश देता है उसे शास्त्र कहते हैं।

'प्रवृत्ति र्वा निवृत्ति र्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसा येनपदिश्येत तच्छास्त्रं तूपपद्यते॥") (म० प्र०)

क्योंकि अब तक लोक अथवा वेद में किसी प्रयोजन रहित वाक्य की उपलब्धि नहीं हुई है। न तो बिना किसी भी प्रयोजन को उद्देश्य बनाये किसी वाक्य का प्रयोग सम्भव है और न तो श्रवण संभव है। और उन वाक्यों का प्रयोजन जो होता है वह प्रवृत्ति साध्य इष्ट की प्राप्ति रूप एवं निवृत्त साध्य अनिष्ट का परिहार रूप होता है। यह निम्न वाक्यों के देखने से पता चलता है– धन को चाहने वाला राजकुल में जाय।' (इस वाक्य का प्रयोजन राजकुल में गमन रूप प्रवृत्ति साध्य इष्ट धन की प्राप्ति रूप है।) 'मन्दाग्नि वाला व्यक्ति जल न पिये' (इस वाक्य का प्रयोजन पानी की निवृत्ति साध्य अनिष्ट मन्दाग्नि रोग का परिहार है।) इसी तरह निम्न दो वाक्यों में भी देखना चाहिये।] स्वर्ग को चाहने वाला यज्ञ

करे । कलञ्ज न खाये '। इत्यादि

सिद्धान्ती ने यह जो कहा है कि- सिद्ध अर्थ के प्रतिपादक 'तुमको पुत्र हुआ ' 'यह सर्प नहीं रस्सी है, इत्यादि वाक्यों में भी हर्ष की प्राप्ति एवं भय की निवृत्ति रूप पुरुषार्थ का संबन्ध देखा जाता है तो इसके विषय में जिज्ञास्य है कि- क्या इस वाक्य के पुत्र जन्म रूपी अर्थ से हर्ष नामक पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है अथवा उसके ज्ञान से ? विद्यमान वस्तु के भी अज्ञात रहने पर चूंकि वह वस्तु पुरुषार्थ नहीं बनती है, अतएव उसके ज्ञान से ही पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, यह कहें, तो फिर विषय के नहीं रहने पर भी उसके ज्ञान मात्र से ही पुरुषार्थ की सिद्धि हो ही जाती है, इस तरह अर्थ परत्व का अभाव होने से जिसका प्रयोजन में पर्यवसान भी हो उस शास्त्र की अर्थ (विषय) की विद्यमानता में प्रमाणिकता नहीं मानी जा सकती है । इस-लिए सब जगह प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का प्रतिपादक होने से, अथवा ज्ञान का प्रतिपादक होने से ही वाक्य को प्रयोजन का प्रतिपादक माना जाता है । अत एव किसी भी वाक्य का तात्पर्य सिद्ध वस्तु के प्रतिपादन में नहीं माना जा सकता है, इस तरह सिद्ध होता है कि वेदान्तवाक्य सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं करते हैं ।

॥ निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी का मत ॥

मू— अत्र कश्चिदाह— वेदान्तवाक्यान्यपि कार्यपरत्वेनैव

ब्रह्मणि प्रमाणभावमनुभवन्ति । कथम् ? निष्प्रपञ्चमद्वितीयम् ज्ञानैकरसं ब्रह्मानाद्यवि-द्यया सप्रपञ्चतया प्रतीयमानं निष्प्रपञ्चं कुर्यादिति ब्रह्मणः प्रपञ्च– विलयद्वारेण विधिविषयत्वमिति कोऽसौ द्रष्टृदृश्यरूप प्रपञ्चविलयद्वारेण साध्यज्ञा– नैक रसब्रह्मविषयो विधिः ? ' न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः । ' न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः ' (बृ ३ । ४ । २) इत्यादिः । द्रष्टृ दृश्यभेदशून्य दृशिमात्रं ब्रह्मकुर्यादि-त्यर्थः । स्वतः सिद्धस्यापि ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चता कार्यत्वमविरुद्धमिति ।

संगति– प्राचीन माया वादियों के दो मत हैं– (१) निष्प्रप-ञ्चीकरणनियोगवाद और (२) ध्यान नियोगवाद । यहां पर निष्प्रपंचीकरण नियोग वादी के मत को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अनु०– अधिकरण पूर्व पक्षी के उपर्युक्त कथन का खण्डन करते हुए कोई (निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी) कहते हैं कि– वेदान्त वाक्य भी कार्य के ही प्रतिपादक होने के कारण ब्रह्म में प्रमाण बनते हैं । यदि कहें कि कैसे ? तो इसका उत्तर है कि– प्रपञ्च रहित, अद्वितीय, ज्ञान मात्र, ब्रह्म जो अनादि

अविद्या के ही द्वारा प्रपञ्च युक्त रूप से प्रतीत हो रहा है उसको निष्प्रपञ्च बना दे; इस तरह ब्रह्म के प्रपञ्च के नाश के द्वारा ब्रह्म विधि वाक्यों का विषय बनता है। यदि पूछें कि– द्रष्टा, दृश्य, रूप प्रपञ्च के द्वारा होने वाले ज्ञानमात्र ब्रह्म को अपना विषय बनाने वाला विधि वाक्य कौन है ? तो इसका उत्तर है कि- 'दृष्टि के देखने वाले को दृश्य रूप से न देखो, मति के मनन करने वाले को मन्तव्य न मानो इत्यादि वाक्य ही ये विधि वाक्य हैं। द्रष्टा दृश्य आदि के भेद से रहित ब्रह्म को ज्ञान मात्र करे। यह उक्त विधि वाक्य का अर्थ है। यद्यपि ब्रह्म स्वतः सिद्ध है फिर भी निष्प्रपञ्चता रूप से उसका कार्यत्व स्वीकार कर लेने में आपत्ति नहीं है।

अधिकरण पूर्वपक्षी के द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन॥

मू० तदयुक्तम्— नियोगवाक्यार्थवादिना हि ; नियोगो, नियोज्यविशेषणम्, विषयः, करणम्, इतिकर्तव्यता प्रयोक्ता च वक्तव्याः। तत्र हि नियोज्य विशेषण– मनुपादेयम्। तच्चा निमित्तं फलमिति द्विधा। अत्र किं नियोज्य विशेषणम् ? तच्च किं ? निमित्तं फलं वेति विवेचनीयम्। ब्रह्मस्वरूपयाथात्म्यानुभवश्– चेन्नियोज्यविशेषणम् तर्हि न तन्निमित्तम् जीवा– नादिवत्तस्यासिद्धत्वात्। निमित्तत्वे च तस्य नित्य- त्वेनापवर्गोत्तर कालमपि जीवननिमित्ताग्निहोत्रादिवत्

नित्यतद्विषयानुष्ठान प्रसङ्गः ॥ नापि फलम्, नियोगिक फलत्वेन स्वर्गादिवदनित्यत्वप्रसङ्गात् ।

अनु०—निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी का उपर्युक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि वेदान्त वाक्यों का अर्थ नियोग रूपमानने वाले को ये छह बातें बतलाना चाहिये १—नियोग, २—नियोज्य का विशेषण, ३—विषय, ४—कारण ५—इतिकर्तव्यता और ६—प्रयोक्ता इसमें नियोज्य के विशेषण का उपादान (विधान) नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वह दो प्रकार का होता है। निमित्त और फल। निष्प्रपञ्चीकरण नियोग में नियोज्य का विशेषण क्या है? तथा वह फल है कि निमित्त? विवेचन करना चाहिये। यदि कहें कि ब्रह्म के स्वरूप का वास्तविक अनुभव ही नियोज्य का विशेषण है तो फिर वह निमित्त नहीं बन सकता है क्योंकि 'आजीवन अग्नि होत्र करे, इत्यादि वाक्य में उक्त जीवन आदि के समान सिद्ध नहीं होसकता है। किञ्च यदि उसे निमित्त मान भी लिया जाय तो फिर उसके नित्य होने के कारण मोक्ष के पश्चात् भी जीवन रूपी निमित्त के कारण अनुष्ठीयमान अग्निहोत्र आदि के समान नित्य ही उसके अनुष्ठान का प्रसङ्ग होगा। यदि ब्रह्म के स्वरूप के यथार्थानुभव को फलरूप नियोज्य का विशेषण माने तो नियोग का फल होने के कारण उसीतरह वह अनित्य होगा जिसतरह नियोग के फल स्वर्ग आदि अनित्य हैं।

मू०—कश्चात्र नियोगविषयः? ब्रह्मेति चेत्, न, तस्य नित्यत्वेनाभव्यरूपत्वात्; अभावार्थत्वाच्च। निष्प्र—

पञ्चं ब्रह्म साध्यमिति चेत्, साध्यत्वेऽपि फलत्वमेव। अभावार्थत्वान्न विधिविषयत्वम्। साध्यत्वं च कस्य? किं ब्रह्मणः? उत प्रपञ्चनिवृत्तेः? न तावद् ब्रह्मणः सिद्धत्वादनित्यत्व प्रसक्तेश्च। अथ प्रपञ्च निवृत्तेः। न तर्हि ब्रह्मणः साध्यत्वम्। प्रपञ्चनिवृत्तिरेव विधि विषयरिति चेत् न, तस्याः फलत्वेन विधिविषयत्वा-योगात्। प्रपञ्चनिवृत्तिरेव हि मोक्षः, स च फलम्। अस्य च नियोगविषयत्वे नियोगात् प्रपञ्च निवृत्तिः, प्रपञ्चनिवृत्त्या नियोगः, इतीतरेतरा-श्रयत्वम्।

अनु०–किञ्च निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी के मत में नियोग का विषय क्या है ? यदि ब्रह्म को ही मानें तो यह नहीं कहा जा सकता है ; क्योंकि ब्रह्म नित्य है अतएव यह साध्य नहीं हो सकता है। किञ्च वह क्रियारूप भी नहीं है। यदि कहें कि निष्प्रपञ्चरूप से ब्रह्म साध्य है तो फिर उसे साध्य मानने पर भी वह फलरूप ही होगा। और क्रियारूप नहीं होने के कारण वह विधि वाक्यों का विषय नहीं बन सकता है।

किञ्च- साध्य कौन है ? ब्रह्म अथवा प्रपञ्च की निवृत्ति? ब्रह्म को साध्य इसलिए नहीं माना जा सकता है कि वह सिद्ध है। किञ्च उसको साध्य मान लेने पर वह अनित्य भी होने

होगेगा। यदि प्रपञ्च की निवृत्ति को ही विधि का विषय मानें तो यह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वह तो नियोग का फल है, अतएव यह विधि का विषय कैसे बन सकता है? क्योंकि निष्प्रपञ्चीकरण नियोग वादी के मत में प्रपञ्च की निवृत्ति ही मोक्ष है, अत एव वही फल है। यदि प्रपञ्च निवृत्ति को ही नियोग का विषय मान लिया जाय तो फिर अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि नियोग के द्वारा प्रपञ्च की निवृत्ति होगी और प्रपञ्च की निवृत्ति से नियोग होगा।"

टिप्पणी—अभावार्थवाच्य—इसकी व्याख्या करते हुए श्रुतप्रकाशिकाकार कहते हैं कि भावार्थाः कर्मशब्दाः। अर्थात् कर्मों के वाचक शब्दों के वाच्यार्थ को भावार्थ कहते हैं। 'कर्म शब्दों वाचको येषां ते कर्म शब्दाः' यह कर्म शब्दाः की व्युत्पत्ति समझनी चाहिये। अर्थात् क्रिया ही भावार्थ शब्द वाच्य है। ब्रह्म के क्रिया रूप न होने से अभावार्थ शब्द भाष्य में कहा गया है 'भावार्थाः कर्म शब्दाः' यह जैमिनि का सूत्र है। भावार्था का विग्रह है 'भावो भावना सोऽर्थो येषां ते' अर्थात् क्रिया के वाचक शब्दों को भावार्था कहते हैं। कर्म शब्द का मीमांसकों ने इस प्रकार से विग्रह माना है। कर्म कृतिः साध्यं यागः, तद्वाचिनः' अर्थात् कृति साध्य यागादि का वाचक कर्म शब्द हैं। अर्थात् भावना के वाचक होने के साथ – साथ कर्मों के वाचक यजेत् इत्यादि से क्रिया रूप अपूर्व की प्रतीति होती है।

मूल- अपि च किं निवर्तनीयः प्रपञ्चो मिथ्यारूपः सत्यो वा ? मिथ्यारूपत्वे ज्ञान निवर्त्यत्वादेव नियोगेन न किञ्चित् प्रयोजनम् । नियोगस्तु निवर्तकज्ञानमुत्पाद्य तद्द्वारेण प्रपंचस्य निवर्तक इति चेत्, तत् स्ववाक्यादेव जातमिति नियोगेन न प्रयोजनम् । वाक्यार्थं ज्ञानादेव ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य मिथ्याभूतस्य प्रपञ्चस्य बाधितत्वात् सपरिकरस्य नियोगस्यासिद्धिश्च । प्रपञ्चस्य निवर्त्यत्वे प्रपञ्च निवर्तको नियोगः किं ब्रह्मस्वरूपमेव ? उत तद्व्यतिरिक्तः ? यदि ब्रह्मस्वरूपमेव, निवर्तकस्य नित्यतया निवर्त्यप्रपंच सद्भाव एव न सम्भवति । नित्यत्वेन नियोगस्य विषयानुष्ठानसाध्यत्वञ्च न घटते । अथ ब्रह्मस्वरूप व्यतिरिक्तः तस्य कृत्स्नप्रपञ्च निवृत्तिरूप विषयानुष्ठानसाध्यत्वेन प्रयोक्ता च नष्ट इत्याश्रयाभावादसिद्धिः । प्रपञ्च निवृत्तिरूप विषयानुष्ठानेनैव ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य निवृत्तत्वान्न नियोगनिष्पाद्य मोक्षाख्यं फलम् । किञ्च प्रपञ्च निवृत्तेर्नियोग कारणस्य इतिकर्तव्यताभावात्, अनुपकृतस्य च करणत्वा-

योगान्न करणत्वम् । कथमितिकर्तव्यताभाव इति चेत्; इत्थम्, अस्येतिकर्तव्यताभावरूपा ? अभावरूपा वा ? भावरूपा च करणशरीरनिष्पत्ति तदनुग्रह कार्यभेदभिन्ना, उभयविधाच न सम्भवति। नहि मुद्गराभिघातादिवत् कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य निवर्तकः कोऽपि दृश्यत इति दृष्टार्था न सम्भवन्ति। नापि निष्पन्नस्य करणस्य कार्योत्पत्ता वनुग्रहः सम्भवति। अनुग्राहकांशसद्भावेन कृत्स्न प्रपञ्चा निवृत्तिरूपकरणस्वरूपासिद्धेः। ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वज्ञानं प्रपञ्चा निवृत्ति रूप करणशरीरं निष्पादयतीति चेत्, तेनैव प्रपञ्च निवृत्ति रूपो मोक्षः सिद्ध इति न करणादिनिष्पाद्यमवशिष्यत इति पूर्वमेवोक्तम्। अभावरूपत्वे चाभावादेव न करणशरीरं निष्पादयति। नाप्यनुग्राहकः, अतो निष्प्रपञ्च ब्रह्मविषयो विधिर्न सम्भवति।

अनुवाद– दूसरी बात यह है कि जिस प्रपञ्च को निष्प्रपञ्ची करण नियोग वादी निवर्तनीय मानते हैं वह प्रपञ्च मिथ्या है अथवा सत्य ? यदि मिथ्या मानें तो फिर उसकी निवृत्ति तो ज्ञान से ही हो जायेगी फिर वहां नियोग की आवश्यकता नहीं है। यदि कहें कि नियोग प्रपञ्च के निवर्तक

ज्ञान को उत्पन्न करता है, और उसके द्वारा प्रपञ्च की निवृत्ति करता है तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि निवर्तक ज्ञान की उत्पत्ति तो प्रपञ्च के मिथ्यात्व बोधक तथा ब्रह्म के निर्विशेषत्व बोधक वाक्य से हो ही जायेगी, इसके लिए नियोग निष्प्रयोजन है। और वाक्यार्थ के ज्ञान से ही ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण मिथ्याभूत प्रपञ्च के निवृत्त हो जाने के कारण शास्त्रोपाङ्ग नियोग की असिद्धि भी आप के मत में हो जाती है।

यदि प्रपञ्च को सत्य मानकर उसको नियोग-निवर्त्य माना जाय तो यह जिज्ञास्य है कि प्रपञ्च का निवर्तक नियोग क्या ब्रह्म स्वरूप है अथवा उससे भिन्न ? यदि वह ब्रह्म स्वरूप है तो फिर निवर्तक के नित्य होने कारण निवर्त्य प्रपञ्च की कभी सत्ता ही नहीं सम्भव है। किञ्च उसके नित्य होने के कारण नियोग विषयों के अनुष्ठान का साध्य भी नहीं बन सकता है।

यदि नियोग को ब्रह्म से भिन्न मानें तो फिर उसके सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति रूप विशेष के अनुष्ठान का साध्य होने के कारण उसका प्रयोक्ता भी नष्ट हो जायेगा (क्योंकि प्रयोक्ता भी तो प्रपञ्च के भीतर ही है (प्रपञ्च की निवृत्ति होते ही प्रयोक्ता भी नष्ट हो ही जायेगा।) अतएव उसका कोई आश्रय नहीं रह जायेगा। इस तरह आश्रय के अभाव में नियोग की सिद्ध ही नहीं हो सकती है। यही नहीं प्रपञ्च की निवृत्तिरूप विषयों के अनुष्ठान से ही ब्रह्म स्वरूप से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च के निवृत्त हो जाने कारण नियोग के द्वारा निष्पादित किये जाने योग्य मोक्ष उसका फल ही नहीं होगा।

किन्च इति कर्तव्यता का अभाव होने के कारण प्रपञ्च की निवृत्ति नियोग का करण (साधकतम) नहीं हो सकती है। और इति कर्तव्यता के द्वारा उपकृत हुए बिना कोई करण हो नहीं सकता है, अत एव प्रपञ्च निवृत्ति नियोग का साधकतम नहीं हो सकती है।

यदि पूछें कि इतिकर्तव्यता का अभाव कैसे है ? तो इसका उत्तर है कि, निष्प्रपञ्चीकरण नियोगवादी प्रपञ्च निवृत्ति की इतिकर्तव्यता को भावरूप मानते हैं अथवा अभाव रूप ? यदि भावरूप इतिकर्तव्यता मानें तो जिज्ञास्य है कि क्या वह प्रपञ्च निवृत्ति रूप करण शरीर की साक्षात् निष्पादिका है अथवा उसकी अनुग्राहिका (परम्परातः) है। इन दोनों प्रकारों में से वह किसी भी प्रकार की नहीं हो सकता है—जिस तरह मुद्गर का प्रहार घट को नष्ट कर देता है उसी तरह सम्पूर्ण प्रपञ्च का निवर्तक कोई पदार्थ नहीं दिखायी देता है, अतएव साक्षात् निवृत्ति का रूप दृष्टार्था इतिकर्तव्यता नहीं मानी जा सकती है। निष्पन्न साधकतम का कार्य की उत्पत्ति में अनुग्रह (उपकार) भी संभव नहीं है, क्योंकि वैसा मानने पर अनुग्राहक अंश की सत्ता बनी रहने के कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च की निवृत्ति होगी ही नहीं। अतएव करण (साधकतम) के स्वरूप की सिद्धि ही नहीं सम्भव है।

यदि कहें कि ब्रह्म का अद्वितीयत्व ज्ञान ही प्रपञ्च की

निवृत्ति रूप करण (साधकतम) के शरीर का निष्पादक है; तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उसी के द्वारा मोक्ष की भी सिद्धि होती है, फिर करण आदि के द्वारा करने के योग्य कुछ बचेगा ही नहीं यह मैंने पहले ही कहा है ।

यदि इतिकर्तव्यता को अभाव रूप माने तो फिर अभाव होने के ही कारण वह अप्रामाणिक है; अतएव वह करण शरीर की निष्पादिका नहीं हो सकती है । इसी तरह वह अनुग्राहक भी नहीं हो सकती है । अतएव निष्प्रपञ्च ब्रह्म को अपना विषय बनाने वाला विधि (नियोग) सम्भव नहीं है । (इस तरह सिद्ध हुआ कि प्रवर्तक वाक्यों (विधिवाक्यों) के ही द्वारा ब्रह्म के स्वरूप की सिद्धि होती है; यह कहना ठीक नहीं है ।)

ध्यान नियोगवादी का मत

मू०— अन्योप्याह—यद्यपि वेदान्त वाक्यानां न परिनिष्पन्न ब्रह्मस्वरूप परतया प्रामाण्यम्; तथापि ब्रह्मस्वरूपं सिद्ध्यत्येव । कुतः? ध्यान विधि सामर्थ्यात् । एवमेव हि समामनन्ति—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।' (बृ०४।४।५) 'य आत्मा-ऽपहतपाप्मा—सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ।' (छा० ८।७।१) 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० ३।४।७)

'आत्मानमेव लोकमुपासीत' (बृ० ३।४।१५) इति। अत्र ध्यान विषयो हि नियोगः स्वविषयभूतध्यानं ध्येयैक निरूपणीयमिति ध्येयमाक्षिपति । स च ध्येयः स्ववाक्य निर्दिष्ट आत्मा । स किं रूप इत्यपेक्षायां तत्स्वरूपविशेष समर्पण द्वारेण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० ३।१) सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।१।१) इत्येवमादीनां वाक्यानां ध्यान विधिशेषतया प्रामाण्यमिति विधिविषयभूतध्यानशरीरानुप्रविष्ट ब्रह्मस्वरूपेऽपि तात्पर्यमस्त्येव, अतः 'एकमेवाद्वितीयम्' 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिभिर्ब्रह्म स्वरूपमेकमेव सत्यम्, तद् व्यतिरिक्तं सर्वं मिथ्येत्यवगम्यते । प्रत्यक्षादिभिर्भेदावलम्बिना च कर्मशास्त्रेण भेदः प्रतीयते, भेदाभेदयोः परस्परविरोधे सत्यनाद्यविद्यामूलत्वेनापि भेदप्रतीतेरभेद एव परमार्थं इति निश्चीयते । तत्र ब्रह्मध्याननियोगेन, तत्साक्षात्कारफलेन निरस्त समस्ताविद्याकृत विविधभेदाद्वितीयज्ञानैकरस ब्रह्मभावरूप मोक्षःप्राप्यते । न च वाक्यात् वाक्यार्थं ज्ञानमात्रेण

ब्रह्मभावसिद्धिः; अनुपलब्धे हि विदिते वेदान्तानुगुणोऽपि तथा च सति श्रवणादिविधानमनर्थकं स्यात् ।

अनु०- दूसरे प्रकार के अद्वैती (ध्यान नियोगवादी) भी कहते हैं' यद्यपि वेदान्त वाक्यों का सिद्ध ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादक रूप से प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जा सकता है, फिर भी उनके द्वारा ब्रह्म के स्वरूप की सिद्धि होती ही है। यदि पूछें कि कैसे ? तो इसका उत्तर है कि ध्यान विधि के सामर्थ्य से (यदि पूछें कि ध्यान विधि कौन है और उसका सामर्थ्य कैसा है ? तो इसका उत्तर है कि निम्न प्रकार के वाक्य) इस प्रकार से ब्रह्म के स्वरूप के ध्यान का विधान करते हैं- 'अरे ! आत्मा का दर्शन श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये) (इस वाक्य में निदिध्यासितव्यः पद से आत्मा की उपासना बतलायी गयी है, और द्रष्टव्यः पद से उसका दर्शन) जो पाप रहित आत्मा है उसका अन्वेषण करना चाहिये। उसकी आत्मा रूप से ही उपासना करे। आत्मा रूप से ही लोक की उपासना करे।

इन वाक्यों में ध्यान का विषय बनाने वाला नियोग है। जो अपने विषयभूत ध्यान के केवल ध्येय के द्वारा निरूपणीय होने से ध्येय का आक्षेप करता है। और वह ध्येय विधि वाक्य से निर्दिष्ट होने के कारण आत्मा ही है। उस आत्मा का स्वरूप क्या है, इस अर्थ को जानने की अपेक्षा होने पर आत्मा के स्वरूप विशेष का बोधक होने के कारण' ब्रह्म अखिल प्रत्यनीक जगत् प्रत्यनीक एवं अपरिच्छिन्न' है। 'हे सौम्य सृष्टि से पूर्व यह प्रत्यक्ष

सत् रूप ही था' इस प्रकार के कारण शोधक वाक्यों का ध्यान विधि के शेष रूप से प्रमाण्य होता है। इस तरह विधि रूप ध्यान के शरीर के भीतर रहने वाले ब्रह्म के स्वरूप में भी तात्पर्य है ही। अतएव 'ब्रह्म एक ही और अद्वितीय है' 'हे श्वेतकेतो वह ही सत्य, वह ही आत्मा है तुम भी वही हो'। 'यहां भेद नाम की कोई वस्तु नहीं है? इत्यादि वाक्यों के द्वारा सिद्ध होता है कि ब्रह्म का स्वरूप ही एक सत्य है, उसको छोड़कर सब मिथ्या है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा तथा भेद का सहारा लेने वाले कर्म शास्त्र के द्वारा भेद को प्रतीति होती है। भेद और अभेद के परस्पर विरोध होने पर अनादि अविद्यामूलक रूप से भी भेद की सिद्धि हो जाने से निश्चित होता है कि अभेद ही परमार्थ है। उसमें भी ब्रह्म का साक्षात्कार ही जिसका फल है उस ब्रह्म के ध्यान को अपना विषय बनाने वाले नियोग के द्वारा सारे अविद्याजन्य अनेक भेदों से रहित अद्वितीय ज्ञान मात्र ब्रह्म भाव स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वाक्य जन्य वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से ही ब्रह्म भाव की सिद्धि हो जाती है क्योंकि कहीं भी वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से ब्रह्म भाव की प्राप्ति नहीं देखी जाती है, तथा देखा जाता है कि वाक्यार्थ ज्ञान हो जाने पर भी अनेक प्रकार के भेद दर्शन की अनुवृत्ति होती रहती है। किञ्च वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से ब्रह्म भाव की प्राप्ति स्वीकार कर लेने पर श्रवण मनन आदि का जो विधान वेदों में किया गया है वह व्यर्थ हो जावेगा।

शाङ्कर मायावादी के द्वारा ध्याननियोगवादी का खण्डन

सू०—शास्त्रोत्थेन—रज्जुरेषा न सर्पः' इत्युपदेशेन सर्पभय निवृत्तिदर्शनात् रज्जुसर्पवद् बन्धस्य च मिथ्याकल्पत्वेन ज्ञानसाध्यतया तस्य ज्ञानजन्य बाधेन निवृत्तिर्युक्ता न नियोगेन । नियोग साध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वं स्यात् स्वर्गादिवत् । मोक्षस्य नित्यत्वं हि सर्ववादि सम्प्रतिपन्नम् । किञ्च धर्माधर्मयोः फलहेतुत्वं स्व-फलानुभवानुगुण शरीरोत्पादनद्वारेणेति ब्रह्मादिस्था-वरान्तरूपचतुर्विधशरीरसंबन्ध रूप संसारफलत्वमवर्ज-नीयम् । तस्मान्न धर्मसाध्यो मोक्षः । तथा च श्रुतिः । "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।" इति अशरीरत्वरूपे मोक्षे धर्माधर्मसाध्य प्रियाप्रिय विरह श्रवणात् न धर्मसाध्यमशरीरत्वमिति विज्ञायते ।

न च नियोग विशेष साध्य फल विशेषवत् ध्यान नियोग साध्यमशरीरत्वम्, अशरीरत्वस्य स्वरूपत्वेनासाध्यत्वात् । यथाहुः श्रुतयः—'अशरीरं

शरीरेष्वन वस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।' (कठो० २।२२) अप्राणो-ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० २।१।२) 'असङ्गोह्ययं पुरुषः' (वृ० ६।३।१५) इत्याद्याः । अतोऽशरीरत्वरूपो मोक्षो नित्य इति न धर्मसाध्यः । तथा च श्रुतिः— 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृता कृतात् । अन्यत्र भूताद् भव्याच्च यत् तत् पश्यसि तद्वद' इति ।

अनु०—यदि यहाँ पर साक्षात् मायावादी यह कहें कि—यह रस्सी है सर्प नहीं; इस उपदेश से सर्प के भय की निवृत्ति देखी जाती है, अतएव रज्जु सर्प के ही समान बन्ध के मिथ्यारूप होने के कारण वह ज्ञान के ही द्वारा बाध्य है, अतएव उसकी ज्ञान के ही द्वारा निवृत्ति मानना ठीक है, नियोग के द्वारा नहीं क्योंकि मोक्ष को नियोग का साध्य मानने पर मोक्ष भी पुण्यादि साध्य स्वर्गादि के समान अनित्य होगा । और सभी वादी मोक्ष को नित्य ही मानते हैं । (यही नहीं; नियोग साध्य मोक्ष को मानने पर वह विपरीत फल भी देने वाला है ।) क्योंकि धर्म और अधर्म (रूप नियोग) अपने फल के अनुभव के अनुकूल शरीर को उत्पन्न करके सुख एवं दुख रूप फलों के हेतु बनते हैं । अतएव ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त चार प्रकार के जो (देव, मनुष्य, तिर्यक् एवं स्थावर) शरीर

हैं उनमें से किसी एक के संबन्ध से अन्य संसारोपभोग रूप फल की प्राप्ति आवश्यक होगी। अत एवं सिद्ध होता है कि मोक्ष धर्म का साध्य नहीं है। श्रुति भी कहती है। निश्चय ही शरीरवान् प्राणी के 'प्रिय संयोग एवं अप्रिय संयोग (रूप सुख-दुःख) का प्रणाश नहीं होता है। शरीर रहित प्राणी को प्रिय एवं अप्रिय का स्पर्श नहीं होता है। यह सुना जाता है कि शरीर राहित्य रूप मोक्ष में धर्म एवं अधर्मसाध्य प्रिय एवं अप्रिय का संबन्ध नहीं रहता है। इस तरह पता चलता है कि शरीर राहित्यरूप मोक्ष, धर्म साध्य नहीं है।

यदि ध्यान नियोगवादी कहें कि जिस तरह किसी विशेष प्रकार के नियोग के द्वारा फल विशेष की सिद्धि होती है उसी तरह शरीर राहित्य रूप मोक्ष; ध्यान नियोग का साध्य है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि शरीर राहित्य ही जीव का वास्तविक स्वरूप है अतएव यह साध्य भी नहीं है। जैसा कि श्रुतियाँ बतलाती भी है—'शरीर के भीतर शरीर रहित अस्थिर वस्तुओं (शरीर) में स्थिर महान् और व्यापक आत्मा का मनन करके ज्ञानी व्यक्ति शोक नहीं करता है।' आत्मा प्राण एवं मन के सम्बन्ध से रहित होने के कारण निर्लेप है। 'यह जीव संग रहित है।' इत्यादि (श्रुतियाँ जीव का स्वरूप शरीर रहित ही बतलाती हैं।) अतएव शरीर राहित्य रूप मोक्ष नित्य है और धर्म साध्य नहीं है। श्रुति भी कहती है-धर्म

अथमें कृत-अकृत, तथा भूत भविष्यत इत्यादि के सम्बन्ध से रहित जिस उस प्रसिद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर रहे हो उसे बतलाओ।'

मू०-अपि च—उत्पत्ति प्राप्ति विकृति संस्कृति रूपेण चातुर्विधं हि साध्यत्वं मोक्षस्य न संभवति। नाता-वदुत्पाद्यः, मोक्षस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन नित्यत्वात्। नापि प्राप्यः। आत्मस्वरूपत्वेन ब्रह्मणो नित्यः प्राप्तत्वात्। नापि विकार्य्यः—दध्यादिवदनित्यत्वप्रसंगादेव। नापि संस्कार्यः संस्कारो हि दोषापनयनेन वा गुणाधानेन वा साधयति। न तावद् दोषापनयनेन, नित्यशुद्धत्वाद् ब्रह्मणः। नाप्यतिशयाधानेन, अनाधेयातिशयस्वरूप-त्वात्। नित्य निर्विकारत्वेन स्वाश्रयायाः पराश्रया-याश्च क्रियाया अविषयतया न निर्घर्षणेनादर्शादिव-दपि संस्कार्यत्वम्। न च देहस्थतया स्नानादि क्रियया आत्मा संस्क्रियते; किन्त्वविद्यागृहीतस्तत्संगतो-ऽहंकर्त्ता। तत्फलानुभवोऽपि तस्यैव। न चाहंकर्त्त-वात्मा, तत्साक्षित्वात्। तथा च मन्त्रवर्णः—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।' (मु० ३।१।१) इति। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ते—

रयात्नुमनीषिणः' (कठ० ३।४) 'एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च । (श्वे० ६। ११) स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।' इति च। अविद्यागृहीतादहं कर्त्तारात्मस्वरूपमनाधेयातिशयं नित्यशुद्धं निर्विकारं निष्कृष्यते, तस्मादात्म स्वरूपत्वेन न साध्यो मोक्षः। यद्येवं किं वाक्यार्थज्ञानेन क्रियत इति चेत्, मोक्षप्रतिबन्ध निवृत्तिमात्रमितिश्रमः। तथा चश्रुतयः—'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि' (प्रश्न० ६।८) इति; 'श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तंमा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' (छा० ७।१।३) 'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः' (छा० ७।२६।२) इत्याद्याः। तस्मान्नित्यस्यैव मोक्षस्य प्रतिबन्ध निवृत्ति वाक्यार्थं ज्ञानेन क्रियते, निवृत्तिस्तु साध्यापि प्रध्वंसा भावरूपा न विनश्यति। ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति तमेवं विदित्वा-

ऽतिमृत्युमेति' इत्यादि वचनं मोक्षस्य वेदनानंतरभावितां प्रतिपादयन्नियोगव्यवधानं प्रतिरुणद्धि। न च विदिक्रिया कर्मत्वेनत्वा ध्यानं क्रिया कर्मत्वेन वा कार्यानुप्रवेशः। उभयविधकर्मत्वप्रतिषेधात्। 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (केन १।३) 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' (बृ० ४।४।१४) इति। 'तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।' इति च।

संगति–ऊपर के अनुच्छेद में बताया जा चुका है कि मोक्ष नियोग साध्य नहीं हो सकता है। प्रस्तुत अनुच्छेद में यह बतलाया जा रहा है कि यदि मोक्ष को साध्य मान लिया जाय तो अनेक दोष होंगे।

अनु० दूसरी बात यह है कि उत्पत्ति, प्राप्ति, विकृत एवं संस्कृत रूप से होने वाले चार प्रकार के साध्यत्वों में किसी भी प्रकार का साध्यत्व मोक्ष में नहीं पाया जाता है। मोक्ष को उत्पाद्य इस लिए नहीं माना जा सकता है कि वह ब्रह्म स्वरूप है अतएव नित्य है। वह प्राप्य भी नहीं है क्योंकि ब्रह्म को ही आत्म स्वरूप होने के कारण वह नित्य प्राप्त है। मोक्ष को विकार्य इसलिए नहीं माना जा सकता है कि संस्कार किसी वस्तु को दो प्रकार से संस्कृत करता है-उसके दोषों को

दूर करके अथवा उसके गुणों को बढ़ाकर। ब्रह्म के दोष का अपनयन इसलिए संभव नहीं है कि वह सदा शुद्ध ही रहता है। ब्रह्म के गुणों में उत्कर्ष का आधान इसलिए संभव नहीं है कि उसका स्वरूप ही ऐसा है कि उसमें किसी प्रकार के उत्कर्ष का आधान नहीं किया जा सकता है। ब्रह्म का स्वरूप नित्य एवं निर्विकार है अतएव वह स्वाश्रित अथवा पराश्रित किसी भी प्रकार की क्रिया का विषय नहीं बनता है। फलतः जिसतरह रगड़कर दर्पण इत्यादि की सफाई रूप संस्कार किया जाता है, उस तरह का कोई भी संस्कार ब्रह्म के स्वरूप में संभव नहीं है।

(यदि कहें कि क्रियाओं के अविषय भूत आत्मा का स्नानादि के द्वारा संस्कार किया जाता है तो यह भी नहीं कह सकते हैं) स्नानादिक्रिया के द्वारा आत्मा का संस्कार नहीं होता है, बल्कि अविद्या के द्वारा कल्पित देह के साथ रहने वाला अहंकार करने वाला अतएव उस संस्कार से उत्पन्न होने वाले फल का भोक्ता भी अहंकर्ता ही होता है। वह अहंकर्ता आत्मा नहीं है (अपितु अहंकर्ता अन्त करण है) आत्मा तो उसका साक्षी है। मन्त्र के द्रष्टा भी ऐसा कहते हैं "तयोरन्यः" इत्यादि अहंकार और ज्ञप्तिरूप में एक अहंकर्ता कर्म फलों को भोगता है और दूसरा ज्ञप्ति रूप आत्मा कर्म फलों का उपभोग किये बिना ही प्रकाशित होते रहता है। ज्ञान वान् लोग शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त अहंकर्ता का कर्मफल

का उपभोक्ता बतलाते हैं।' (ज्ञान-मात्र को नहीं ।) आत्मा एक, प्रकाश स्वरूप, सभी भूतों के भीतर छिपा हुआ, सबों में व्याप्त सभी भूतों की अन्तरात्मा, अहंकर्ता के कर्मों का अध्यक्ष, सभी जीवों का आधार, साक्षी, ज्ञान मात्र कर्म फल भोक्तृत्वादि रहित सत्वादि गुणों से रहित है। ' वह आत्मा अविद्या के सम्बन्ध से रहित [होने कारण शुक्र स्वरूप] शरीर संबन्ध रहित, अक्षत, स्नायु रहित, अतएव कर्म तथा कर्मों के फल से उसका संबन्ध नहीं होता ऐसा ब्रह्म के स्वरूप का मनन करना चाहिये । ' ये सभी श्रुतियाँ अहंकर्ता अन्तःकरण साक्षी रूप से ही नित्य आत्मा का स्वरूप बतलाती हैं । अविद्या कल्पित अहंकर्ता के स्वरूप से भिन्न ही आत्मा के स्वरूप को प्रतिशयाधान से रहित, नित्य शुद्ध और विकार रहित बतलाती हैं । अतएव आत्मा स्वरूप होने के कारण मोक्ष को साध्य नहीं माना जा सकता है ।

इस पर यदि ध्यान नियोग वादी यह कहें कि तो फिर आपके मतानुसार वाक्यार्थ ज्ञान क्या करता है ? तो इसका उत्तर है कि– मोक्ष प्राप्ति के जो बाधक हैं उनकी निवृत्ति का ही काम वाक्यार्थ ज्ञान करता है। निम्न श्रुतियाँ भी इसी अर्थ को बतलाती हैं— ' अज्ञान से पार करने के कारण आप ही मेरे संसार सागर से रक्षक पिता हैं। ' आप जैसे ही आत्मज्ञानियों से मैंने सुना है कि आत्म ज्ञानी संसार को पार कर जाता है । मैं संसार में पड़ा हुआ शोक कर रहा हूँ उस मुझको आप तार दें । , शिष्य नारद की प्रार्थना सुनकर

आचार्य सनत् कुमार इन्हें— "अज्ञान संबन्ध रहित आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं।" इत्यादि। अतएव वाक्य के अर्थ ज्ञान के द्वारा नित्य ही मोक्ष के प्रतिबन्धक की निवृत्ति की जाती है, वह निवृत्ति यद्यपि साध्य रूप है फिर भी उसका विनाश नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं प्रध्वंस रूप है।

'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है', 'उस ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को जान कर संसार से पार हो जाता है' इत्यादि वाक्य के वाक्यार्थ ज्ञान के पश्चात् मोक्ष को होने वाली प्राप्ति को बतलाते हुए नियोग रूप व्यवधान को रोक रहे हैं। ज्ञान क्रिया का कर्म होने अथवा ध्यान क्रिया का कर्म होने के कारण मोक्ष को कार्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि श्रुतियाँ उसके दोनों प्रकार के कर्मत्व का निषेध करती हैं। उसके ज्ञान क्रिया कर्मत्व का खण्डन करती हुई केन श्रुति कहती है कि ब्रह्म विदित (ज्ञेय एवं अविदित [ज्ञाता] से भिन्न ही है।' 'जिसके द्वारा अहंकर्ता इस सम्पूर्ण प्रपञ्च को जानता है उसे किस साधन से जाने' [अतएव ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं बनता है यह सिद्ध होता है। ब्रह्म को ध्यान क्रिया का अविषय बतलाती हुई दूसरी केन श्रुति कहती है कि— "उस प्रमातृत्वादि कल्पना शून्य को ही ब्रह्म जानो जिस उपाधि विशिष्ट देवता को लोग 'यह यह' इस रूप से उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।"

टिप्पणी— नित्य निर्विकारत्वेन इत्यादि वाक्य में श्री भाष्यकार स्वामी जी ने दर्पण का उदाहरण शांकर भाष्य के अनुकूल अधिक मार्मिक रूप से उपस्थित किया है।

इसी विषय को उपस्थित करते हुए शंकर भाष्य में कहा गया है किन्चु कि आत्मा क्रिया का आश्रय नहीं बनती है। क्योंकि क्रिया अपने आश्रय में ही विकार लाती है जब कि आत्मा क्रिया का विषय बनता ही नहीं तो फिर वह किस तरह उससे विकृत हो सकता है। किञ्च यदि आत्मा को क्रिया के द्वारा विकृत होने वाला मान लिया जाय तो फिर आत्मा विकृत होने वाले घटादिकों के समान अनित्य होने लगेगा। साथ ही 'अविकार्योऽयमुच्यते' इत्यादि वाक्यों का बोध भी होने लगेगा। यदि किसी दूसरे आश्रय में क्रिया होती है तो उसके द्वारा आत्मा को विकृत होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

श्री वाचस्पति मिश्र भी भामती में इसी अर्थ को इस प्रकार से कहते हैं क्रिया ब्रह्म का धर्म नहीं हो सकती है, क्योंकि क्रिया के अपने आश्रय के विकार का हेतु होने के कारण आत्मा का नित्यत्व खण्डित होगा। दूसरे आश्रय में होने वाली क्रिया कभी दूसरे को विकृत करे यह संभव नहीं है। ऐसा मानने पर तो देवदत्त के भोजन करने पर यज्ञदत्त की तृप्ति सम्भव होने लगेगी।

श्री भाष्यकार स्वामी जी कहते हैं कि चूंकि आत्मा निर्विकार है अतएव वह स्वाश्रय अथवा पराश्रय क्रिया का विषय नहीं बनता है। अतएव उसका जिस तरह हाथ से रगड़कर दर्पण का संस्कार किया जाता है उसी तरह का संस्कार संभव नहीं है। कहने का आशय यह है कि जो क्रिया का विषय होता है उसी में विकार देखा जाता है। यदि दर्पण को हथेलीपर रगड़

जाय तो वह क्रिया दर्पण में होती है यदि दर्पण पर हाथ रगड़ा जाय तो फिर वह क्रिया दर्पण में होगी। इस तरह से स्वाश्रय एवं पराश्रय दोनों प्रकार की क्रियाओं का विषय दर्पण बन जाता है। यहाँ पर श्रीभाष्यकार स्वामी जी ने आत्मा के क्रियाश्रयत्व मात्र का ही खण्डन न कर क्रिया विषयत्व का भी खण्डन किया है जो शांकर मत के अनुसार तथा शांकर भाष्य की अपेक्षा अधिक मार्मिक है।

येनेदं सर्वं विजानाति-इत्यादि वाक्य का अर्थ अद्वैती विद्वान् निम्न प्रकार से करते हैं-जिस प्रमाता के द्वारा अहंकर्ता इस सम्पूर्ण लोक को जानता है उसको किस साधन के द्वारा जाने? क्योंकि साधन ज्ञेय पदार्थ को अपना विषय बनाता है। ज्ञाता आत्मा तो ज्ञेय है नहीं वह तो साक्षी मात्र है। अतएव आत्मा ज्ञान क्रिया का विषय नहीं बनती है।

शास्त्र के निर्विषयत्व शंका का परिहार

मू०—न चैतावता शास्त्रस्य निर्विषयत्वम्, अविद्या कल्पित भेदनिवृत्तिपरत्वात् शास्त्रस्य। नापीदन्तया ब्रह्म विषयीकरोति शास्त्रम्, अपितु अविषयं प्रत्यगात्मस्वरूपं प्रतिपादयदविद्याकल्पित ज्ञान ज्ञातृज्ञे यविभागं निवर्त्तयति। तथा च शास्त्रम्-'न दृष्टे—र्द्रष्टारं पश्येः' इत्येवमादि। न च ज्ञानादेव बन्ध निवृत्तिरिति श्रवणादि विध्यानर्थक्यम्, स्वभाव

प्रवृत्ता सकलेतर विमुखीकरणद्वारेण वाक्यार्थावगति हेतुत्वात् तेषाम् । न च ज्ञानमात्राद् बन्ध निवृत्तिं दृष्टेति वाच्यम्; बन्धस्य मिथ्यारूपत्वेन ज्ञानोत्तरकालं स्थित्यनुपपत्तेः, अत एव न शरीरपातादूर्ध्वमेव बन्धनिवृत्तिरिति वक्तुं युक्तम् । नहि मिथ्यारूप– सर्पभयनिवृत्तिः रज्जुयाथात्म्यज्ञानातिरेकेण सर्प- विनाशमपेक्षते, यदि शरीरसंबन्धः पारमार्थिकः तदा हि तद्विनाशमपेक्षा स तु ब्रह्मव्यतिरिक्ततया न पारमार्थिकः । यस्य तु बन्धो न निवृत्तस्तस्य ज्ञानमेव न जातमित्यवगम्यते, ज्ञानकार्यादर्शनात् । तस्मात् शरीरस्थिति र्भवतु वा मा वा, वाक्यार्थं ज्ञान समनन्तरं मुक्त एवासौ, अतो न ध्याननियोग साध्यो मोक्ष इति न ध्यान विधिशेषतया ब्रह्मणः सिद्धिः, अपि तु 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१) 'तत्त्वमसि' (६।७।७) ' अयमात्मा ब्रह्म' (मा० १।२) इति तत्परेणैव पद समुदायेन सिध्यतीति ।

अनु०–यदि ध्यान नियोग वादी यह कहें कि वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार करने पर शास्त्र निर्वि- षय हो जायेंगे । क्योंकि शास्त्र अविद्या कल्पित भेद की निवृत्ति

मात्र करता है । शास्त्र यह-यह करके प्रमेय रूप से ब्रह्म को अपना विषय नहीं बनाता है; बल्कि वह प्रत्यगात्मा (आत्मा) के स्वरूप को निर्विषय रूप से बतलाते हुए अविद्या से कल्पित ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता रूप विभागों का निरास करता है । वे शास्त्र ये हैं-'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' (अर्थात् चक्षु से उत्पन्न मनोवृत्ति को स्वाभाविक नित्य दृष्टि द्वारा व्याप्त करने वाले आत्मा को तुम इन चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकते हो।) इत्यादि ।

यहाँ पर यदि ध्यान नियोगवादी कहें कि वाक्यार्थ ज्ञान से यदि बन्ध की निवृत्ति होती है तो फिर श्रवण मनन इत्यादि का विधान करने वाली श्रुतियाँ व्यर्थ हो जायेंगी तो ऐसा नहीं कहा जा सकता हैं, क्योंकि-श्रवण मनन आदि तो अनादि काल से स्वभावतः प्राप्त जितने विकल्प (भेद) हैं उनको नष्ट करके वाक्यार्थ ज्ञान का कारण बनते हैं (कहने का आशय यह है कि श्रवण मनन आदि का श्रुतियों द्वारा विधान करके विधि वाक्यों के ही समान वाक्यों द्वारा अनुवाद किया जाता है । यदि कहें कि अनुवाद करना व्यर्थ है तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि अनुवाद भी प्रवृत्ति विशेष के साधन हैं । वह इस प्रकार से कि-जीव तो इष्ट वस्तुओं की प्रेप्सा एवं अनिष्ट वस्तुओं की जिहासा से स्वभावतः बाह्य वस्तुओं में आकृष्ट मन वाला है। अतएव आत्मा के विषय में मन को नहीं लगा सकता है । इन विधि वाक्यों के सदृश वाक्यों के

द्वारा मन को विषयों में जाने से रोकने का कार्य होता है। तथा मन को आत्म चिन्तन में लगाया जाता है। फलतः श्रवण, मनन आदि का अनुवाद सप्रयोजन है, निष्प्रयोजन नहीं।)

यदि कहें कि वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से बन्ध की निवृत्ति नहीं देखी जाती है तो यह कहना उचित नहीं क्योंकि बन्धन तो मिथ्या रूप है अतएव ज्ञान उत्पन्न हो जाने के पश्चात् वह बना रहे यह असम्भव है। अत एव यह कहना उचित नहीं है कि शरीरपात के पश्चात् ही बन्धन की निवृत्ति होती है। यह उसी तरह होता है–जिस तरह मिथ्या सर्प के भय की निवृत्ति के लिए रस्सी के यथार्थ ज्ञान को छोड़कर सर्प के विनाश की अपेक्षा नहीं होती है। यदि शरीर का सम्बन्ध परमार्थ होता तब ही उसके विनाश की अपेक्षा होती। शरीर का संबन्ध तो पारमार्थिक है नहीं, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न है। जिसके बन्धन की निवृत्ति नहीं हो रही है, उसको समझना चाहिये कि उसे वाक्यार्थ ज्ञान हुआ ही नहीं है। क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान का कार्य बन्धन की निवृत्ति उसमें नहीं देखी जाती है। अतएव शरीर रहे अथवा न रहे जिस समय जिसको वाक्यार्थ ज्ञान हो जाता है उसी समय वह मुक्त हो जाता है। अत एव मोक्ष ध्यान नियोग का साध्य नहीं है। अतएव ब्रह्म की सिद्धि ध्यान विधि के शेष (पूरक) रूप से नहीं होती है, अपितु ब्रह्म अलीक प्रत्यनीक, जड़ प्रत्यनीक, एवं परिच्छिन्न प्रत्यनीक है' तुम वह (ब्रह्म) ही हो' 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि भेद के निषेधक वाक्यों द्वारा निर्विशेष रूप से ही ब्रह्म सिद्ध होता है।

ध्यान नियोगवादी द्वारा उपर्युक्त मत का खण्डन

तदयुक्तम्—वाक्यार्थज्ञानमात्राद् बन्धनिवृत्त्यनुपपत्तेः। यद्यपि मिथ्यारूपो बन्धो ज्ञानबाध्यः तथापि बन्धस्यापरोक्षत्वात् न परोक्षरूपेण वाक्यार्थज्ञानेन स बाध्यते। रज्ज्वादावपरोक्ष सर्प प्रतीतौ वर्तमानायां नायं सर्पो रज्जुरेषेत्याप्तोपदेश जनितपरोक्ष सर्प विपरीत ज्ञानमात्रेण भयानिवृत्ति दर्शनात्, आप्तोपदेशस्य तु भयनिवृत्ति हेतुत्वं वस्तुयाथात्म्यापरोक्षनिमित्त प्रवृत्ति हेतुत्वेन। तथा हि, रज्जु सर्प दर्शन भयात् परावृत्तः पुरुषो नायं सर्पो रज्जुरेषेत्याप्तोपदेशेन तद्वस्तु याथात्म्यदर्शने प्रवृत्तः तदेव प्रत्यक्षेण दृष्ट्वा भयान्निवर्तते। न च शब्द एव प्रत्यक्षं ज्ञानं जनयतीति वक्तुं युक्तम् तस्यानिन्द्रियत्वात्। ज्ञान-सामग्रीषु इन्द्रियाण्येव ह्यपरोक्षसाधनानि। न चा स्यानभिसंहित फलकर्मानुष्ठान मृदित कषायस्य श्रवणमनन - निदिध्यासन विमुखीकृतबाह्यविषयस्य पुरुषस्य वाक्यमेवापरोक्षं ज्ञानं जनयति, निवृत्त प्रतिबन्धे तत्परेऽपि पुरुषे ज्ञानसामग्री विशेषाणा—

मिन्द्रियादीनां स्वविषयनियमात्ति क्रमादर्शनेन तद्योगात् ॥

अनु-वाक्यार्थं ज्ञान मात्र से मोक्ष मानने वाले अद्वैती विद्वान् का उपर्युक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि वाक्यार्थं ज्ञान मात्र से बन्ध की निवृत्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है। यद्यपि मिथ्या होने के कारण बन्ध; ज्ञान बाध्य है फिर भी चूँकि बन्ध परोक्ष नहीं है अथवा उसका बाध भी परोक्ष रूप वाले वाक्यार्थ ज्ञान से संभव नही है। जब तक रज्जु आदि में अपरोक्ष सर्प की प्रतीति बनी रहती है, उस समय यह सर्प नही रस्सी है, इस प्रकार के पुरुष के उपदेश से उत्पन्न परोक्ष (सर्प के विपरीत) रस्सी के ज्ञान मात्र से भय की निवृत्ति नहीं देखी जाती है। आप्तोपदेश को तो भय की निवृत्ति का कारण इसलिए माना जाता है कि वह वस्तु के वास्तविक साक्षात्कार ज्ञान के कारण भूत प्रवृत्ति का हेतु है। वह इस प्रकार से-रस्सी में सर्प देखने से उत्पन्न भय के कारण डरा हुआ पुरुष यह सर्प नहीं रस्सी है; इस आप्तोपदेश के द्वारा उस वस्तु (रस्सी) को ठीक से देखने में प्रवृत्त होता है; और उस रस्सी को ही प्रत्यक्षतः देखकर भय मुक्त हो जाता है।

यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि शब्द ही प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है, क्योंकि शब्द इन्द्रिय नहीं है। और ज्ञान के जितने साधन हैं उनमें इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन हैं। (शब्द नहीं।)

यदि यहां पर यह कहा जाय कि फलाभिसंधि रहित होकर कर्मों के अनुष्ठान करने के कारण जिस अधिकारी के अन्तः करण के मल नष्ट हो गये हैं, तथा श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा जो बाह्य विषय पराङ्मुख है उस पुरुष को वाक्यार्थ ज्ञान हो अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न कर देता है। तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति के प्रतिबन्ध निवृत्त हो गये हैं, तथा जिसको वाक्यार्थ ज्ञान हो गया है उस पुरुष को भी वाक्य श्रवण मात्र से अपरोक्ष ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि ज्ञान के सामग्री विशेष जो इन्द्रिय आदि हैं, वे अपने ही विषय के ग्रहण रूपी नियम का अतिक्रमण नहीं करते हैं, यह देखा जाता है, अत एव वाक्य श्रवण मात्र से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति नहीं संभव है।

टिप्पणी– स्वविषय नियमातिक्रमादर्शनेन– इत्यादि वाक्य का अभिप्राय है कि चूंकि ज्ञान सामग्री अपने साध्य ज्ञान का अतिक्रम नहीं कर सकती है, अत एव शब्द के द्वारा साक्षात् ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि उसका साध्य परोक्ष ज्ञान को ही उत्पन्न करना है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि जिस तरह एक मन आभ्यान्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करता है, उसी तरह एक ही शब्द परोक्ष एवंअपरोक्ष दोनों प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करता है, यह मानने में क्या आपत्ति है ? तो ऐसा इसलिए नहीं माना जा सकता है कि– मन का सामर्थ्य है कि वह आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों प्रकार के विषयों को

अपना विषय बनाता है। शब्द में ऐसी शक्ति नहीं है, वह तो केवल परोक्ष ज्ञान का ही हेतु है।

यदि कहें कि 'तुम दशवां' हो इस प्रकार का शब्द प्रत्यक्ष ज्ञान का जनक होता है, यह देखा जाता है। तो ऐसा इसलिए नहीं कह सकते हैं कि उक्त वाक्य को सुनकर पहले अपने दशवां होने का एक परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, पुनः प्रत्यक्ष की सामग्रियों के द्वारा 'मैं दशवां हूं इस प्रकार का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। चूंकि ये दोनों ज्ञान इतने शीघ्र होते हैं कि उनके क्रम का ज्ञान नहीं होता है। अतएव पहले के परोक्ष ज्ञान के उपर भी ज्ञान के अपरोक्षत्व का आरोप होता है। जिस तरह घटोऽयम् इस वाक्य को सुनने वाले व्यक्ति को घट का साक्षात्कार करके होने वाला अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियों से ही उत्पन्न होता है वाक्य से नहीं, वाक्य तो इन्द्रिय व्यापार का करण है। उसी तरह दशमस्त्वमासि वाक्य से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, होता है वाक्य को सुनकर ज्ञान की सामग्री भूत इन्द्रियों में व्यापार उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप 'मैं दशवां हूं' इस प्रकार का साक्षात्कार होता है।

ध्यान वाक्यार्थज्ञान का हेतु नहीं !

मू०— न च ध्यानस्य वाक्यार्थ ज्ञानोपायता, इतरेतराश्रयत्वात्। वाक्यार्थज्ञाने जाते तद्विषयध्यानम्, ध्याने निर्वृत्ते वाक्यार्थ ज्ञानमिति। न च ध्यानवाक्यार्थ ज्ञानयोर्भिन्न विषयत्वम्, तया सति ध्यानस्य वाक्यार्थ

ज्ञानोपायता न स्यात् । न ह्यन्यध्यानमन्योन्मुख्य मुत्पादयति । ज्ञातार्थं स्मृतिसन्तति रूपस्य ध्यानस्य वाक्यार्थज्ञान पूर्वकत्वमवर्जनीयम्, ध्येयब्रह्मविषयज्ञानस्यहेत्वन्तरा सम्भवात् न च ध्यानमूलं ज्ञानं वाक्यान्तरजन्यम्, निवर्त्तकज्ञानं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमिति युक्तम् । ध्यानमूलमिदं वाक्यान्तरजन्यं ज्ञानं तत्वमस्या दिवाक्य जन्यज्ञानेनैकविषयम्, भिन्नविषयं वा ? एकविषयत्वे तदेवेतरेतराश्रयत्वम् भिन्नविषयत्वे ध्यानेन तदोन्मुख्यापादनासम्भवः । किञ्च- ध्यानस्य ध्येय ध्यात्राद्यनेक प्रपञ्चापेक्षत्वान्निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मैकत्वविषयवाक्यार्थज्ञानोत्पत्तौ दृष्टद्वारेण—नोपयोग इति वाक्यार्थं ज्ञानमात्रादविद्या निवृत्तिं वदतः श्रवण मनन निदिध्यासनविधीनामानर्थक्यमेव ।

अनु०– ध्यान वाक्यार्थ ज्ञान का उपाय नहीं हो सकता है, क्योंकि ध्यान को वाक्यार्थ ज्ञान का साधन मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा । क्योंकि वाक्य के अर्थ का ज्ञान होने पर उसमें प्रतिपादित विषय का ध्यान हो सकता और है (ध्यान के होने पर ही वाक्यार्थ ज्ञान होगा । यह नहीं कह सकते हैं कि ध्यान और वाक्यार्थ ज्ञान दोनों के विषय एक नहीं भिन्न भिन्न हैं, क्योंकि

ऐसा होने पर ध्यान यथार्थ ज्ञान का साधन नही वन सकता है। किसी दूसरे विषय का ध्यान किसी अन्य विषय को जानने के लिए हमें उन्मुख नहीं बना सकता है। किञ्च ज्ञान के विषय के स्मरण की लगातार अव्यवच्छिन्न धारा को ही ध्यान कहते हैं, अत एव उसके लिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ का ज्ञान होना अनिवार्य है क्योंकि जिस ब्रह्म का ध्यान करना है उसके ज्ञान का कोई दूसरा साधन हो नहीं सकता है।

यदि कहें कि जो ज्ञान ध्यान का मूल है वह किसी अन्य वाक्य से उत्पन्न होता है और जो ज्ञान अविद्या का निवर्तक है वह तत्वमसि आदि वाक्यों से उत्पन्न होता है, तो यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि जो ज्ञान वाक्यान्तर जन्य है तथा ध्यान का मूल है उसका भी वही विषय है, जो तत्त्वमसि आदि वाक्यों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का विषय है ? अथवा उसका विषय दूसरा है ? यदि दोनों का एक ही विषय मानें तो फिर वही अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि दोनों का विषय भिन्न-भिन्न मानें तो फिर उस ध्यान से तत्त्वमसि आदि वाक्यों के अर्थ ज्ञान के प्रति उन्मुखता नही हो सकती है।

किञ्च दूसरी बात है कि ध्यान के लिए ध्यान करने वाले ध्याता, ध्यान के विषय आदि अनेक प्रपञ्च की अपेक्षा होती है, अत एव ध्यान, ध्येय आदि भेदों से युक्त ध्यान प्रपञ्च रहित ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान का उपयोगी नहीं हो सकता है। इस तरह

वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से अविद्या की निवृत्त मानने वाले के मत में में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की विधि व्यर्थ ही होगी।

मूल— यतो वाक्याद्वापरोक्षज्ञानासंभवाद् वाक्यार्थज्ञानेनाविद्या न निवर्त्तते, तत एव जीवन्मुक्तिरपि दूरोत्सारिता। का चेयं जीवन्मुक्तिः? सशरीरस्यैव मोक्ष इति चेत्, माता मे वन्ध्येतिवदसङ्गतार्थं वचः, यतः सशरीत्वं बन्धः अशरीरत्वमेवमोक्ष इति त्वयैव श्रुतिभिरुपपादितम्। अथ सशरीरत्व प्रतिभासे वर्तमाने यस्यायं प्रतिभासो मिथ्येति प्रत्ययः, तस्य सशरीरत्व निवृत्तिरिति। न मिथ्येति प्रत्ययेन सशरीत्वं निवृत्तं चेत्, कथं सशरीरस्य मुक्तिः? अजीवतोऽपि मुक्तिः सशरीरत्वमिथ्याप्रतिभास निवृत्तिरेवेति कोऽयं जीवन्मुक्तिरिति विशेषः? अथ सशरीरत्व प्रतिभासो बाधितोऽपि यस्य द्विचन्द्रज्ञानवदनुवर्तते, स जीवन्मुक्त इति चेत् न, ब्रह्मव्यातिरिक्त सकल वस्तुविषयत्वाद् बाधकज्ञानस्य, कारणभूताविद्या कर्मादिदोष सशरीरत्व प्रतिभासेन सह तेनैव बाधित इति बाधितानुवृत्तिर्न शक्यते वक्तुम्। द्विचन्द्रादौ तु तत्प्रतिभास

हेतुभूत दोषस्य बाधकज्ञानभूत चन्द्रैकत्व ज्ञानाविषयत्वे नाबाधितत्वात् द्विचन्द्र प्रतिभासानुवृत्तिर्युक्ता । किञ्च 'तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' इतिसद्विद्या निष्ठस्य शरीरपात मात्रमपेक्षते मोक्ष इति वदन्तीयं श्रुतिर्जीवन्मुक्तिं वारयति । संवा जीवन्मुक्तिरापस्तम्बेनापि निरस्ता—

वेदानिमं लोकममुञ्च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् । बुद्धे क्षेमप्रापणं तच्छास्त्रै र्विप्रतिषिद्धम् । बुद्धे चेत् क्षेम प्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत । एतेन परं व्याख्यातम् । " (आपस्तम्बधर्मं २ । ९ । २१) इति ।

अनेन ज्ञानमात्रान्मोक्षश्च निरस्तः । अतः सकल-भेद निवृत्तिरूपा मुक्तिजीवतो न संभवति ध्याननियो-गेन ब्रह्मापरोक्षज्ञानफलेनैव बन्धनिवृत्तिः । न च नियोग साध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्व प्रसक्तिः, प्रतिबन्ध निवृत्तिमात्रस्यैव साध्यत्वात् । किञ्च नियोगेनसाक्षा-द्बन्धनिवृत्तिः क्रियते, किन्तु निष्प्रपञ्चज्ञानैकरस ब्रह्मापरोक्ष्यज्ञानेन । नियोगस्तु तदापरोक्ष्यज्ञानं जनयति ।

अनुवाद— चूंकि वाक्य से अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता अत एव सिद्ध होता है कि वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती है। और इसी प्रतिपादन से जीवत्मुक्ति का भी खण्डन हो गया। क्योंकि जीवन् मुक्ति के विषय में यह प्रश्न उठता है कि जीवन्मुक्ति किसे कहते हैं ?

यदि कहें कि शरीर के रहते ही रहते मोक्ष का हो जाना ही जीवन्मुक्ति है, तो यह कहना उसी तरह से असंगत बात है जिस तरह कोई यह कहे कि मेरी मां बन्ध्या है। क्योंकि आपने हो अनेक श्रुतियों के माध्यम से यह सिद्ध किया है कि शरीर से आत्मा का युक्त रहना ही बन्धन कहलाता है, और शरीर का संयोग छूट जाना ही मोक्ष है।

यदि कहें कि उसको शरीर की प्रतीति होते रहने पर भी जिसको यह ज्ञान हो जाय कि यह प्रतीति मिथ्या है, उसके शरीर साहित्य की निवृत्ति हो जाती है। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यदि यह शरीर युक्तत्व ज्ञान मिथ्या है' इस प्रकार के ज्ञान मात्र से शरीरयुक्तत्व का ज्ञान निवृत्त हो हो गया तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि शरीर से युक्त रहने पर भी मुक्ति हो जाना जीवन् मुक्ति है ? तो फिर शरीरपात के बाद होने वाली मुक्ति और जीवन् मुक्ति में कोई अन्तर ही नहीं होगा क्योंकि शरीरपात के बाद में होने वाली मुक्तिमें भी तो शरीर साहित्य का मिथ्यात्व का प्रतिभास होता ही है।

यदि कहें कि शरीर युक्तत्व के ज्ञान के बाधित हो जाने पर भी जिसको उसकी द्विचन्द्र ज्ञान के समान अनुवृत्ति होती रहती है वही जीवन्मुक्त कहलाता है, तो यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ब्रह्म को छोड़कर सभी वस्तुओं को अपना विषय बनाता है बाधक ज्ञान। इसलिए वह बाधक ज्ञान के ही द्वारा शरीर युक्तत्व प्रतीति के साथ साथ सभी भ्रमों के मूल कारण अविद्या और तज्जन्य कर्म आदि दोष सबके सब बाधित हो गये फिर बाधित की अनुवृत्ति कैसे कही जा सकती है? यदि कहें कि तो फिर चन्द्रैकत्व ज्ञान रूपी बाधक ज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर द्विचन्द्रज्ञान की अनुवृत्ति कैसे होती रहतीहै? तो इसका उत्तर है कि द्विचन्द्र प्रतीति में तो उस तरह के होने वाले ज्ञान का कारण रूप जो दोष है वह बाधक ज्ञान चन्द्रैकत्व ज्ञान का विषय नहीं बनता है, अतएव वह उसके द्वारा बाधित नहीं होता है, अतएव द्विचन्द्र प्रतीति की अनुवृत्ति तो युक्ति संगत है।

किञ्च— मुमुक्षु व मुक्त होने में तब तक की ही देर होती है, जब तक कि शरीर का संबन्ध नहीं छूटता, शरीर का संबन्ध समाप्त होने के पश्चात् उसे मुक्ति मिल जाती है। इस श्रुति से पता चलता है कि सद्विद्या निष्ठ व्यक्ति को मोक्षहोने के लिए उसका शरीर मात्र ही अपेक्षित होता है। अतएव यह श्रुति जीवन् मुक्ति का खण्डन करती है। इस जीवन्मुक्ति का खण्डन यद्यपि आप ने भी किया। वह इस तरह से

इस लोक एवं स्वर्ग लोक रूपी फलों को देने वाले त्रिवर्ग के साधन भूत कर्मों के प्रति पादक वेदों का परित्याग करके आत्म चिन्तन करना चाहिए। वाक्यार्थ ज्ञान के उत्पन्न हो जाने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति का निषेध शास्त्रों में किया गया है (क्योंकि एवं वर्तयन् भाऽऽयुषम्' इत्यादि वाक्य मोक्ष प्राप्त्यर्थ आजीवन उपासन करने का विधान करते हैं। अगले सूत्र में वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से जीवन मुक्ति का खण्डन करते हुए आपने कहा)-यदि वाक्यार्थ ज्ञानमात्र से ही मुक्ति मिल जाती तो फिर इस लोक में ही उस जीवन मुक्त को दुःख की उपलब्धि नहीं होती। वे आगे कहते हैं)-इस शास्त्र विरोध एवं प्रत्यक्ष-विरोध के द्वारा औ-डुलोमि के मतानुसार कही गयी बातों का खन्डन हो गया। अथवा जिस तरह इस लोक में वाक्यार्थ ज्ञान मात्र से दुःख की निवृत्ति नहीं देखी जाती है इसी तरह देहपात के पश्चात् भी नहीं होती है।

इस जीवन्मुक्ति के खन्डन से ही ज्ञान मात्र से ही मोक्ष होता है, यस कहने वालों के मत का खण्डन हो गया। इस तरह सभी भेदों की निवृत्ति रूपा मुक्ति जीते जी नहीं होती है। अतएव जिस ध्यान नियोग का फल ब्रह्म का साक्षात्कार है उसी के द्वारा बन्धन की निवृत्ति होती है।

यदि कहें कि मोक्ष को नियोग का साध्य मानने पर उसको अनित्य मानना होगा। क्योंकि साध्यत्व एवं अनित्यत्व का अव्य-भिचरित संबन्ध देखा जाता है। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है;

क्योंकि मोक्ष के प्रतिबन्धक की निवृत्ति ही साध्य है, मोक्ष नहीं। दूसरी बात यह है कि नियोग साक्षाद्बन्ध का निवृत्ति नहीं करता है, बल्कि प्रपञ्च रहित ज्ञानमात्र ब्रह्म का साक्षात्कार करा कर वह बन्ध की निवृत्ति किया करता है। नियोग तो उस ब्रह्म के साक्षात्कार करने वाले ज्ञान को उत्पन्न कर देता है।

मूल—कथं नियोगस्य ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वमिति चेत्, कथं वा भवतोऽनभिसंहित फलानां कर्मणां वेदनोत्पत्ति हेतुत्वम् ? मनो नैर्मल्यद्वारेणेति चेत्, ममापि तथैव। मम तु निर्मले मनसि शास्त्रेण ज्ञानमुत्पाद्यते। तव तु नियोगेन मनसि निर्मले ज्ञानसामग्रीवक्तव्येति चेत्। ध्यान नियोग निर्मलं मन एव साधनमिति ब्रूमः। केनावगम्यत इति चेत् भवतो वा कर्मनिर्मलो निर्मलं भवति; निर्मले मनसि श्रवणमनन निदिध्यसनैः सकलेतरविषयविमुखस्यैव शास्त्रं निवर्तकज्ञानमुत्पादयतीति केनावगम्यते? 'विविदिषन्ति, यज्ञेन, दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ६।४ २२) 'श्रोतव्यो मनतव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ६।५।६) 'ब्रह्मवेदब्रह्मैव भवति (मु० ३।२।९) इत्यादिभिः शास्त्रैरिति चेत्, ममापि-'श्रोतव्यो मनतव्यो निदिध्यासितव्यः' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्

(तै०३।१) 'न चक्षुषा गृह्यते नापिवाचा' (मु०३।१।८) 'मनसा तु विशुद्धेन' 'हृदामनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः' इत्यादिभिः शास्त्रैः ध्याननियोगेन मनो निर्मलं भवति। निर्मलञ्च मनो ब्रह्मापरोक्षज्ञानं जयतत्यवगम्यत इति निरवद्यम्।

अनु०–यदि कोई यह पूछे कि नियोग ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु कैसे बन सकता है ? तो मैं पूछता हूँ कि वाक्यार्थ ज्ञान वादों के मत में भी निष्काम कर्मों को कैसे ज्ञानोत्पत्ति का हेतु कैसे माना जाता है ? यदि कहे कि वे कर्म मनको निर्मल बनाकर ज्ञानोत्पत्ति के हेतु बनते हैं तो मेरे भी मत में नियोग मनको निर्मल बनकर ज्ञानोत्पत्ति का हेतु बन जाता है।

इस पर यदि आप यह कहें कि हमारे मतमें तो यह माना जाता है निर्मल मन में शास्त्र के द्वारा ज्ञान उत्पन्न कर दिया जाता है, ध्यान नियोगवादी के मत में तो नियोग के द्वारा ज्ञान की सामग्री उत्पन्न की जाती जाती है तो मैं बतलाता हूँ कि ध्यान जन्य नियोग के द्वारा स्वच्छ मन ही ज्ञान का साधन है। (अर्थात् केवल मन तो ज्ञान का साधारण कारण है, किन्तु निर्मल मन ज्ञान का असाधारण कारण है।) यदि आप यह पूछते हैं कि उपर्युक्त बात को आप कैसे जानते है ? तो मैं पूछता हूँ–कि–आप कैसे जानते हैं, कि कर्मों से मन स्वच्छ होता है, और निर्मल मन में श्रवण मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा सभी विषयों पराङ्मुख

बनाकर शास्त्र निवर्त्तक ज्ञान को उत्पन्न करता है ।

यदि कहें कि हमारे मत में निम्न शास्त्रों के वाक्य ही प्रमाण हैं-'१) फलाभिसंधि रहित यज्ञ, दान, तपस्या तथा उपवास के द्वारा ब्रह्म को जानने की इच्छा होती है । '२)आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए उसका श्रवण,मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। जिसको वाक्यार्थ ज्ञान के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान हो गया है वह ब्रह्म ही हो जाता है । इत्यादि । तो मेरे भी मत को प्रमाणित करते हुए निम्न शास्त्र वाक्य बतलाते हैं कि ध्यान नियोग द्वारा मन निर्मल होता है । वे वाक्य यह हैं- 'आत्मसाक्षात्कार करने के लिए श्रवण,मनन एवं निदिध्यासन करना चाहिए' । ब्रह्म ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।' 'आत्मा ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियोंका विषय नहीं"आत्मा को विशुद्ध मनके द्वारा ही जान जा सकता है । 'आत्मा का साक्षात्कार ध्यानके द्वारा ही सम्भव है ।"इत्यादि इन सभी वाक्यों के परिशीलन से पता चलता है कि निर्मल मन ब्रह्म के साक्षात्कार रूप ज्ञान को उत्पन्न करता है ।

मूल- 'नेदं यदिदमुपासते' (केन० १।५) इत्युपास्यत्वं प्रतिषिद्धमिति चेत् नैवम् नात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं प्रतिषिध्यते; अपितु ब्रह्मणो जगद् वैरूप्यं प्रतिपाद्यते यदिदं जगदुपासते प्राणिनः । नेदंब्रह्म त्वं विद्धि' यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यत इति वाक्यार्थः ।

अन्यथा तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इति विरुद्धयते। ध्यान-विधिवैयर्थ्यं च स्यात्, अतो ब्रह्मसाक्षात्कार फलेन ध्याननियोगेनैवापारमार्थभूतस्य कृत्स्नस्य द्रष्टृदृश्यादिप्रपञ्चरूप बन्धस्य निवृत्तिः।

अनु०- यदि वाक्यार्थ ज्ञानवादी यह शंका करें कि 'नेदं यदिदमुपासते' श्रुति ब्रह्म की उपासना का निषेध करती है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि इस श्रुति में ब्रह्म के उपास्यत्व का प्रतिषेध न करके ब्रह्म के जगद् वैरूप्य का प्रतिपादन किया जाता है। इस वाक्य का अर्थ है कि- जीव जो इस जगत् की उपासना किया करते हैं, वह ही ब्रह्म नहीं है, यह तुम जानो जिसको वाणी अपना विषय नहीं बना सकती है अर्थात् जो वाणी के द्वारा परिच्छिन्न नहीं हैं, अत एव वाणी उसका वर्णन नहीं कर सकती है। अपितु वाणी जिसके द्वारा अपना कार्य किया करती है, वह ब्रह्म है। क्योंकि ऐसा इस वाक्य का अर्थ न मानने पर आगे के 'उसी को तुम ब्रह्म जानो' इस वाक्य का विरोध होगा। किञ्च निदिध्यासितव्यः इत्यादि पद के द्वारा जो ब्रह्म के ध्यान का विधान किया गया है वह भी व्यर्थ हो जायेगा। अत एव यह मानना चाहिए कि ब्रह्म का साक्षात्कार ही जिसका फल है, उस ध्यान नियोग के द्वारा मिथ्याभूत सम्पूर्ण द्रष्टा दृश्य आदि रूप बन्धन की निवृत्ति होती है।

॥ भास्कर मत की शङ्का का खण्डन ॥

यद्यपि कैश्चिदुक्तम्—भेदाभेदयो विरोधे—न विद्यत इति।
तदयुक्तम्— नहि शीतोष्णतमः प्रकाशादिवद् भेदाभेदावेकस्मिन् सङ्गच्छेते ।

अथोच्येत— सर्वं हि वस्तुजातं प्रतीतिव्यवस्थाप्यम्, सर्वं च भिन्नाभिन्न प्रतीयते । कारणात्मना जात्यात्मना चाभिन्नम्, कार्यात्मना व्यक्त्यात्मना च भिन्नम्। छायातपादिषु विरोधः सहानवस्थान लक्षणो भिन्नाधारत्वरूपश्च, कार्यकारणयोर्जातिव्यक्त्योश्च, तदुभयमपि नोपलभ्यते । प्रत्युत एकमेव वस्तु द्विरूपं प्रतीयते । यथा मृदयं घटः, खण्डो गौः मुण्डो गौ, इति। न चैकरूपं किञ्चिदपि वस्तु लोके दृष्टचरम्, न च तृणादेर्ज्वलनादिवदभेदो भेदोपमर्दी दृश्यत इति न वस्तु विरोधः, मृत्सुवर्णगवाश्वाद्यात्मनावस्थितस्यैव घटमुकुट खण्ड वडवाद्यात्मना चावस्थानात् । न च भिन्नस्य, भिन्नस्य च वस्तुनोऽभेदो भेदश्चैक एवाकार इतीश्वराज्ञा । प्रतीतत्वादकल्प्यं चेत् । प्रतीतत्वादेव भिन्नाभिन्नत्वमिति द्वैरूप्यमप्यभ्युपगम्यताम् । नहि विष्फा-

रिताक्षः पुरुषो घटशरावखण्डमुण्डादिषु वस्तुषूपलभ्यमानेषु, इयं मृत, अयञ्च घटः, इदं गोत्वम्; इयं व्यक्ति इति विवेक्तु न शक्नोति, अपि तु मृदयं घटः खण्डो गौरित्येव प्रत्येति। अनुवृत्तिबुद्धि बोध्यं कारणमाकृतिश्च, व्यावृत्तिबुद्धिबोध्य कार्यं व्यक्तिश्चेति विविनक्तीति चेत्, नैवम्, विविक्ताकारानुपलब्धे.। नहि सुसूक्ष्ममपि निरीक्षमाणैः इदमनुवर्तमानमिदं च व्यावर्त्तमानमपितु पुरोवस्थिते वस्तुन्याकारभेद उपलभ्यते यथा सम्प्रतिपन्नेऽवये कार्ये विशेषे चैकत्व बुद्धिरुपजायते, तथैव सकारणे ससामान्ये चैकत्वबुद्धिरविशिष्टोपजायते एवमेव देशतः कालतश्च। कारणतश्चात्यन्तविलक्षणेष्वपि वस्तुषु तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञा जायते, अतोद्वयात्मक मेव वस्तु प्रतीयते इति कार्यकारणयोर्जातिव्यक्त्योश्चात्यन्तभेदोपपादनं प्रतीति पराहतम्।

अनु०— और भास्कर मतावलम्बियों ने यह जो कहा है कि भेदाभेद में विरोध नहीं है। तो यह भी कहना उचित नहीं है। जिस तरह एक ही वस्तु शीत-उष्ण दोनों नहीं हो सकती है, अन्धकार एवं प्रकाश दोनों एक नहीं हो सकते इसी तरह

एक ही वस्तु में भेद और अभेद दोनों नहीं हो सकते हैं ।

यदि भास्कर मतावलम्बी यह कहें कि– सारी वस्तुओं की व्यवस्था उनके ज्ञान के अनुसार ही की जाती है। सभी वस्तुओं की प्रतीति भिन्न एवं अभिन्न रूप से होती है। किसी भी वस्तु की कारण रूप से तथा जाति रूप से एकता, एवं कार्य रूप से तथा व्यक्ति रूप से भिन्नता की प्रतीति नहीं होती है। छाया और आतप आदि में जो विरोध प्रतीति होता है वह इसलिए कि छाया और आतप (धूप) (तथा अन्धकार एवं प्रकाश शीत और उष्ण) ये एक साथ नहीं रह सकते हैं। और उनकी आधार भी एक न होकर भिन्न ही होता है। कार्य और कारण, जाति तथा व्यक्ति में ये दोनों दोष नहीं है। (जो कार्य है वही कारण भी हो सकता है, अतएव इनका एक आधार तथा एक साथ स्थिति दोनों ही सम्भव है।) इसका कारण यह है कि एक ही वस्तु के दोनों (कारण एवं कार्य तथा जाति एवं व्यक्ति) दोनों रूप उपलब्ध होते हैं। जैसे यह मिट्टी है यह घड़ा है। यह खण्ड गो है यह मुण्ड गो है। (इत्यादि उदाहरण में देखा जा सकता है। जैसे- मृदात्मना घट एवं मिट्टी में अभेद तथा घटात्मना उनमें परस्पर में भेद होता है। उसी तरह गोत्वात्मना खण्ड मुण्ड सभी गौ में भेद तथा व्यक्त्यात्मना भेद है।) संसार में कोई भी वस्तु नहीं है जो सदा एक रूप ही रहे।

यदि यहां पर कोई यह कहे कि अभेद उसी तरह से भेदों का नष्ट कर देता है जिस तरह अग्नि सभी ई

को जलाकर भस्म कर देती है। अतएव वस्तुओं में कोई विरोध नहीं है। तो यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि– कारणात्मना एवं जात्यात्मना अभिन्न रूप से विद्यमान मिट्टी, सुवर्ण, गो, अश्व आदि वस्तु कार्यात्मना एवं व्यक्त्यात्मना घट, मुकुट, खण्ड, वड़वा आदि रूप से भिन्न बन जाती है।

यदि कहें कि भेद व्यक्तिगत है और अभेद जातिगत है, अत एव एक ही वस्तु में भेदाभेद कैसे माना जा सकता है? तो इसका उत्तर है कि) अभिन्न जाति और भिन्न व्यक्ति दोनों प्रकार की वस्तुओं का अभेद और भेद एक ही प्रकार में होना चाहिए यह कोई ईश्वर की आज्ञा तो है नहीं। यदि कहें कि चूंकि उसकी इस प्रकार की प्रतीति होती है तो यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि प्रतीति होने के कारण वस्तु की भिन्नता एवं अभिन्नता इन दोनों रूपों को आप भी स्वीकार करें। आखें खोल खोलकर देखने वाला व्यक्ति भी घट शराव, खण्ड मुण्ड आदि उपलब्ध होने वाली वस्तुओं में यह मिट्टी का अंश है। यह घट का अंश है। (कार्यांश है) अथवा (कारणांश है) यह गोत्व (जाति) का अंश है। यह व्यक्ति का अंश है। इत्यादि। अपितु उसको भी यही ज्ञान होता कि यह मिट्टी ही घड़ा बन गई है। जो खण्ड व्यक्ति है वही गौ है। जो अनुवृत्ति बुद्धि विषय में बने उसे कारण अथवा जाति कहते हैं। (अर्थात् सभी वस्तुओं में जो एक प्रतीत हो उसे जाति अथवा कारण कहते हैं। सभी घटों में मिट्टी की एक रूपता प्रतीति होती है।

अतएव वह कारण है । ऐसे ही सभी व्यक्तियों में गोत्व की एकता ज्ञात होती है अतएव वह जाति है । प्रत्येक गो व्यक्ति अलग प्रतीत होने के कारण वह व्यक्ति है । प्रत्येक घट व्यक्तियों की अनेकता प्रतीत होती है अतएव वह कार्य है । इस तरह जाति और व्यक्ति में भेद की प्रतीत होती ही है । तो यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जाति एवं व्यक्ति कारण एवं कार्य के अलग-अलग आकार की प्रतीत नहीं होती है । इसको बिल्कुल सूक्ष्मता पूर्वक देखे जाने पर भी किसी घट अथवा किसी गो व्यक्ति को देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि इसका यह आकार अनुवर्तित होता है और इसका यह आकार सभी व्यक्तियों में अलग-अलग रहता है । अपितु जिस तरह कार्य की एकता एवं व्यक्ति की एकता ज्ञात होती है उसी प्रकार कार्य एवं कारण तथा जाति एवं व्यक्ति की एकता का ज्ञान होता है । इसी तरह देश काल एवं आकार से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में भी यह वही है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है । अतएव यह मानना चाहिए की वस्तु भिन्न एवं अभिन्न इन दोनों प्रकारों से ही प्रतीत होती है । इस तरह जाति एवं व्यक्ति में कारण एवं कार्यों में अत्यन्त भेद का प्रतिपादन प्रतीति के विरुद्ध है ।

मूल०— अथोच्येत— मृदयं घटः, खण्डो गौरितिवत् देवोऽहं मनुष्योहमिति समानाधिकरण्येनैक्य प्रतीतेरात्म शरीरयोरपि भिन्नाभिन्नत्वं स्यात् । अत इदं भेदा-

भेदोपपादनं निजसदन निहितहुतवहज्वालायत इति। तदिदमनाकलितभेदाभेद साधन समानाधिकरण्य तदर्थं याथात्म्यबोधविलसितम्। तथाहि अबाधित एव प्रत्ययः सर्वत्रार्थं व्यवस्थापयति। देवाज्ञात्मात्माभिमानस्तु आत्मयाथात्म्य गोचरैः सर्वैः प्रमाणैर्बाध्यमानो रज्जु-सर्पादि बुद्धिवत् नात्मशरीरयोरभेदं साधयति। खण्डो गौः मुण्डो गौरिति सामानाधिकरण्यस्य न केनचिद् क्वचिद् बाधो दृश्यते, तस्मान्नाति प्रसङ्गः, अतएव जीवोऽपि ब्रह्मणो नात्यन्तभिन्नः, अपि तु ब्रह्मांशत्वेन भिन्नाभिन्नः।

तत्राभेद एव स्वाभाविकः भेदस्त्वौपाधिकः। कथमवगम्यत इतिचेत्—'तत्त्वमसि' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिभिः श्रुतिभिः 'ब्रह्मैवेद्यावापृथिवी' इति प्रकृत्य ब्रह्मदासा ब्रह्मैव कितवा उत। स्त्रीपुंसौ ब्रह्मणो जातौ स्त्रियो ब्रह्मोत वा पुमान्।" इत्याथर्वणिकानां संहितोपनिषदि ब्रह्मसूक्ते अभेद श्रवणाच्च।

अनु०– यदि ध्यान नियोगवादी यह कहें कि यह मिट्टी का

घड़ा है। 'खण्ड गौ है' इत्यादि समानाधिकरण्य वाक्यों के ही समान "मैं देव हूँ" "मैं मनुष्य हूँ" इत्यादि वाक्यों में समानाधिकरण्यरूप से आत्मा एवं शरीर की प्रतीति होती है। अत एव शरीर और आत्मा में भी भेदाभेद स्वीकार करना होगा। अतएव यह भेदाभेद का प्रतिपादन उसी तरह खतरनाक है जिस तरह अपने घर में रखी हुई आग जलकर घर को ही जला बैठे। तो ध्यान नियोगवादी ऐसा इसलिए कहते हैं कि वे भेदाभेद के साधनभूत समानाधिकरण्य और उसके वास्तविक अर्थ को समझ नहीं सके। क्योंकि अबाधित ज्ञान ही सर्वत्र विषयों की व्यवस्था करता है। देव आदि शरीर में होने वाला आत्मा का ज्ञान तो आत्मा को वास्तविक रूप से अपना विषय बनाने वाले सभी प्रमाणों के द्वारा बाधित होता है। रस्सी में होने वाले सर्प के भ्रम के समान बाधित होने के कारण आत्मा और शरीर के भेद को सिद्ध नहीं कर सकता है। यह खण्ड गौ है, यह मुण्ड गौ है' इत्यादि का भी बाध नहीं देखा जा जाता है। अतः अतिव्याप्ति का कोई प्रसङ्ग नहीं होगा। इसलिए यह भी मानना चाहिए कि जीव भी आत्मा से अत्यन्त भिन्न नहीं है अपितु वह ब्रह्म का अंश होने के कारण भिन्न भी है और अभिन्न भी। इसमें यह समझना चाहिये कि जीव और ब्रह्म में अभेद ही स्वाभाविक है भेद तो औपाधिक ही है। यदि आप यह पूछें कि इस बात का पता कैसे चलता है ? तो इसका उत्तर है कि- निरा श्रुतियां ही इस अर्थ को बतलाती हैं। तत्त्वमसि श्रुति

जीव और ब्रह्म में अभेद का बतलाती हुई कहती हैं 'तुम ब्रह्म हो' 'इस जीव से भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है इस अर्थ को'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' श्रुति बतलाती है। 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि स्वर्ग लोक तथा भूलोक भी ब्रह्म हैं। यहां से आरम्भ करके श्रुति कहती है। व्याध भी ब्रह्म हैं, दास भी ब्रह्म हैं। सभी स्त्री और पुरुष भी ब्रह्म स्वरूप हैं। स्त्री पुरुष ब्रह्म से उत्पन्न हैं। निश्चय ही स्त्री हो या पुरुष सभी ब्रह्म स्वरुरूप हैं। इस तरह आथर्वणिकों की संहिता के उपनिषद् के ब्रह्म सूक्त में ब्रह्म और जीव का अभेद सुना जाता है।

मू०— 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्' (श्वे० ६। १३) 'ज्ञाज्ञौद्वावजावीशनीशौ' (श्वे० १। ९) 'क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः' (श्वे०५।१२) 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसार मोक्षस्थितिबन्धहेतुः' (श्वे० ६। १६) स कारणं करणाधिपाधिपः' (श्वे० ६। ९) 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (श्वे० ४। ६) 'यआत्मनितिष्ठन्' (बृ० ५। ७ २२) 'प्राज्ञेनात्मनासम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद' (बृ० ३।३। २१) 'प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः उत्सम् याति' (बृ० ६। ३ ३५)

५ 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (श्वे० ३ । ८) इत्यादिभिभेद श्रवणाच्च, 'जीवपरयोर्भेदाभेदश्रवणयो। तत्र 'ब्रह्मवेदब्रह्मैवभवति' इत्यादिभिर्मोक्षदशायां जीवस्य ब्रह्मस्वरूपापत्ति व्यपदेशात् । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।४।१४) इति तदानीं भेदेनेश्वर दर्शन निषेधाच्चाभेदः स्वाभाविक इत्यवगम्यते ।

अनु०परमात्मा नित्य एवं चेतन जीवों से भी बढ़कर नित्य एवं चेतन है, वह अकेला ही अनेक जीवों की इच्छाओं को पूर्ण करता है। जीव एवं परमात्मा दोनों अज हैं फिर भी ईश्वर ज्ञ एवं नियामक हैं तथा जीव अज्ञ एवं नियाम्य ।' उन जीवों के संसार के संबन्ध के हेतुभूत गुण यगादि क्रिया जन्य सत्त्व, रजस् एव तमोगुण हैं तथा मोक्ष प्राप्ति के हेतुभूत गुण दया आदि आत्मगुण हैं। इन सबों से संबन्ध का हेतु अन्य भी देखा जाता है । 'प्रकृति, जीव और उनके नियामक परमात्मा ही संसार एवं मोक्ष तथा स्थिति तथा बन्धन के कारण हैं । करणाधीप (जीव) के भी स्वामी वे परमात्मा ही सबों के कारण हैं' उन दोनों (जीवात्मा एवं परमात्मा में से एक [जीवात्मा।] कर्मों के फलों का भोग करता है और दूसरा परमात्मा कर्मफलों का उपभोग किये बिना ही हृष्ट पुष्ट एवं प्रसन्न रहता है ।' जो परमात्मा

आत्मा के भीतर रहता हुआ।' स्वाप काल में जीव प्राज्ञ परमात्मा का आलिङ्गन प्राप्त कर तज्जन्य आनन्द मग्न होने के कारण आभ्यन्तर तथा वाह्य किसी भी वस्तु का नहीं जानता। 'उस परमात्मा के ध्यान में मग्न वह संसार बन्धन को त्याग देता है' 'उस परमात्मा को इस प्रकार जानकर जीव मुक्त हो जाता है।' इन सभी श्रुतियों में जीवात्मा एवं परमात्मा का भेद सुना जाता है। अतएव जीव और ब्रह्म में भेद और अभेद दोनों को अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

उसमें भी 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि मुण्डक श्रुतियाँ बतलाती हैं कि मोक्षावस्था में जीव ब्रह्म स्वरूपता को प्राप्त करता है। जिस अवस्था में मुक्त जीव को सम्पूर्ण जगत् आत्म स्वरूप हो जाता है उस समय वह किस साधन से किस को देखे। यह श्रुति मोक्षावस्था में जीव एवं ईश्वर में प्रतीत होने वाले भेद का निषेध करती है, अत एव पता चलता है कि जीव एवं ब्रह्म का अभेद ही स्वाभाविक है।

मूल०– ननु च 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता (तै० ३ । १) इति सह श्रुत्या तदानीमपि भेदः प्रतीयते। वक्ष्यतिच 'जगद् व्यापार वर्जं प्रकरणादसन्निहित त्वाच्च' [शा०मी०४।४।१७] 'भोगेमात्र साम्यलिङ्गाच्च' [४।४।२१] इति। नंत देवम् नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिशतैरात्मभेद

प्रतिषेधात् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा-विपश्चिता' इति सर्वैः कामैः सह ब्रह्माश्नुतेः सर्वगुणान्वितं ब्रह्माश्नुते, इत्युक्तं भवति, अन्यथा ब्रह्मणा-सहेत्य प्राधान्यं ब्रह्मणः प्रसज्येत । जगद् व्यापार वर्जमित्यत्र मुक्तस्य भेदेनानवस्थाने सति ऐश्वर्यन्यूनताप्रसङ्गो वक्ष्यते । अन्यथा सम्पद्याविर्भावः स्वेन-शब्दात् इत्यादिभिर्विरोधात् । तस्मादभेद एव स्वाभाविकः भेदस्तु जीवानां परस्माद् ब्रह्मणः परस्परञ्च बुद्धीन्द्रियदेहोपाधिकृतः ।

अनु– यदि यहाँ पर कोई यह कहे कि तैत्तिरीयोपनिषद् मोक्ष में जीव का ब्रह्म से भेद का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है –मुक्त जीव सर्वज्ञ परमात्मा के साथ मिलकर अपने सभी अभिलषित भोग को प्राप्त कर लेता है। सूत्रकार भी चौथे अध्याय के अन्तिम पाद में बतलायेंगे कि जीव मुक्त होकर भी जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलयरूप व्यापारों को नहीं करता यह प्रकरण तथा सान्निध्य के द्वारा ज्ञात होता है। तथा जीव और ब्रह्म में केवल भोग की ही समता होती है। अतएव जीव ब्रह्म में भेद ही स्वाभाविक प्रतीत होती है। तो यह शंका नहीं की जा सकती है क्योंकि परमात्मा को छोड़कर कोई दूसरा द्रष्टा नहीं है, इत्यादी सैकड़ों श्रुतियां में जीवात्मा और ब्रह्म के बीच प्रतीयमान

भेद का निषेध करती है। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' श्रुति का सभी गुणों से युक्त में अभिप्राय है। क्योंकि जीव अपनी सभी कामनाओं के सथ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। यदि ऐसा अर्थ माना जाय तो फिर 'सह' का योग होने से ब्रह्म को अप्रधानता तथा जीव की प्रधानता होने लगेगी। अतएव मोक्ष में जीव के ब्रह्मरुपता की प्राप्ति ही उक्त श्रुति का अभिप्राय है। जगद् व्यापार वर्जम् सूत्र में यदि जीव की ब्रह्म से पृथक स्थिति मान ली जा तो फिर जीव के ऐश्वर्य में न्यूनता का प्रसङ्ग होगा। यह चलकर कहेंगे। नहीं तो फिर ब्रह्म सूत्र ४।४।१ मोक्ष को प्राप्त कर जीव अविर्भूत गुणाष्टक हो जाता है इस ब्रह्म और जीव की अनन्यता को बतलाने वाले सूत्र से विरोध होगा। अतएव अभेद स्वाभाविक है और भेद तो जीवों का परंब्रह्म से बुद्धि इन्द्रिय और देह की उपाधि के कारण है।

मूल०- यद्यपि ब्रह्म निरवयवं सर्वगतं च, तथापि आकाश इव घटादिना बुद्धयाद्युपाधिना च ब्रह्मण्यपि भेदः संभवत्येव। न च भिन्ने ब्रह्मणि बुद्धयाद्युपाधिसंयोगः, बुद्धयाद्युपाधि संयोगात् ब्रह्मणिभेद इतीतरेतराश्रयत्वम्। उपाधेस्तत् संयोगस्य च कर्मकृतत्वात्। तत्प्रवाहस्य चानादित्वात्। एतदुक्तं भवति— पूर्वकर्मसंबद्धात जीवात् स्वसंबन्ध एवोपाधिरुत्पद्यते, तदद्यवतात् कर्म। एवं बीजाङ्कुरन्यायेन कर्मोपाधि-

संबन्धस्य अनादित्वान्न दोष इति । अतोजीवानां परस्परं ब्रह्मणाचाभेद एव स्वाभाविकः । उपाधीनां पुनः परस्परं ब्रह्मणा च अभेदवत् भेदोऽपि स्वाभाविकः । उपाधीनां उपाध्यन्तराभवात् तदभ्युपगमे अनवस्थानात च । अतो जीव कर्मानुरूपं ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नस्वभावा ए उपाधयः उत्पद्यन्त इति ।

अनु०— यद्यपि अवयव रहित ब्रह्म में बुद्धि आदि उपाधियों के भेद के कारण भेद उसी तरह होता है जिस तरह निरवय एवं सर्वगत आकाश का घट,पट उपाधियों के कारण घटाकाश मठाकाश आदि रुप से औपाधिक भेद होता है । यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि -ब्रह्म को भिन्न होने पर उसका बुद्धि इन्द्रिय आदि उपाधियों से संयोग संभव है और बुद्धि इन्द्रिय आदि उपाधियों से संयोग तभी हो सकता है, जब ब्रह्म उनसे भिन्न हो इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा । क्योंकि उपधि एवं उसके संयोग कर्मजन्य हैं, और उनका प्रवाह भी अनादि है।

कहने का आशय यह है कि-प्राचीन कर्मों से संबद्ध जीवों से स्वसम्वद्ध ही उपाधियां उत्पन्न होती हैं और युक्त जीव से कर्म उत्पन्न होता है । इस प्रकार बीजाङ्कुरन्याय कर्मोपाधि के अनादि होने के कारण कोई दोप नहीं है । (कहने का आशय है कि जिस तरह बीज से अंकुर और अंकुर से बीज की उत्पत्ति का प्रवाह अनादि है उसी तरह शरीर संबन्ध से कर्मोपाधि की उत्पत्ति है और कर्मोपाधि

से शरीर का संबन्ध अनादि है । अतएव यही मानना चाहिए कि जीवों का परस्पर में अभेद है तथा ब्रह्म का अंशों से अभेद ही स्वाभाविक है किञ्च जिस तरह से उपाधियों का परस्पर में तथा ब्रह्म से अभेद है उसी तरह से भेद भी स्वाभाविक मानना चाहिए । क्योंकि एक उपाधि को दूसरी उपाधि की अपेक्षा होती है और उसे यदि स्वीकार किया जाय तो अनवस्था दोष होगा। अतएव जीवों के कर्मानुसार ब्रह्म से भिन्न एवं अभिन्न स्वाभाव वाली हो उपाधियाँ प्राप्त होती हैं ।

ध्यान नियोग वादी द्वारा भास्कर मत का खण्डन

मू०—अत्रोच्यते अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म ध्यान विषय विधिपरं वेदान्तवाक्यजातमिति वेदान्तवाक्यै रभेदः प्रतीयते । भेदावलंविभिः कर्मशास्त्रैः प्रत्यक्षा दिभिश्च भेदः प्रतीयते । भेदाभेदयो परस्परं विरोधात् अनाद्यविद्यामूलतयाऽपि भेदप्रतीत्युपपत्तेः अभेद एव परमार्थः इत्युक्तम् । तत्र यदुक्तं भेदाभेदयोरुभयोरपि प्रतीतिसिद्धत्वान्न विरोध इति तदयुक्तम्— कस्माच्चित् कस्यचित् विलक्षणत्वं हि तस्मात् तस्य भेदः । तद् विपरीतत्वाच्चाभेदः । तयोस्तथाभावात थाभाव रूपयोरेकत्रसम्भवमनुन्मत्तः को ब्रवीति ?

अनु०—उपर्युक्त पूर्वपक्ष का उत्तर दिया जाता है- वेदान्त वाक्य समूह अद्वितीय सत्, चित्, आनन्द स्वरूप ब्रह्म विषयक ध्यान का विधान करते हैं। भेद का अवलम्बन करने वाले कर्म शास्त्रों के द्वारा भेद की प्रतीति होती है। चूँकि भेद और अभेद दोनों में आपसमें विरोध है, अतएव अनादि अविद्यामूलक होने पर भेद की प्रतीति की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए मैंने पहले ही कहा है कि वास्तविक अभेद ही है।

इस पर भास्कर मतावलम्बी ने यह जो कहा है कि भेदाभेद प्रतीति से ही सिद्ध होते हैं, अतएव उनमें विरोध नहीं है, वह अनुचित है। किसी एक वस्तु की किसी दुसरी वस्तु से जो विलक्षणता होता है वही उसका उससे भेद है और विलक्षणता का अभाव होने पर अभेद होता है। एक हीं देश काल में किसी एक हो वस्तुमें उन विलक्षण एवं अविलक्षण रूप भेद और अभेद की सत्ता को पागल को छोड़कर कौन कह सकता है ?

मू०—कारणात्मना जात्यात्मना चाभेदः कार्यात्मना च भेद इत्याकार भेदादविरोध इति चेत् न; विकल्पा सहत्वात्। आकारभेदादविरोधं वदतः किमेकस्मिन्ना कारे भेदः ? आकारान्तरे चाभेद इत्यभिप्रायः ? उताकारद्वययोगि वस्तुगतावुभावपि ? इति। पूर्वं स्मिन् कल्पे व्यक्तिगतो भेदः जाति गतश्चाभेद इति

नैकस्य द्वयात्मकता । जाति व्यक्तिरिति चैकमेव वस्त्विति चेत् तर्ह्याकारभेदादविरोधः परित्यक्तः स्यात् । एकस्मिंश्च विलक्षणत्व तद्विपर्ययौ विरुद्धा वित्युक्तम् । द्वितीये तु कल्पे अन्योन्यविलक्षणमाकार द्वयमप्रतिपन्नञ्च तदाश्रयभूतं वस्त्विति । तृतीयाभ्युप गमेऽपि त्रयाणामन्योन्यवैलक्षण्यमेवोपपादितं स्यात्, न पुनरभेदः । आकारद्वयनिरुह्यमाणाविरोधं तदाश्रय भूते वस्तुनि भिन्नाभिन्नत्वमिति चेत् । स्वस्माद्विल क्षणं स्वाश्रयमाकारद्वयं स्वस्मिन् विरुद्धधर्मद्वय समा वेश निर्वाहकं कथं भवेत् ? अविलक्षणं तु कथन्त राम् ? आकारद्वय तद्वतोश्च द्वयात्मकत्वा पगमे निर्वाहकान्तरापेक्षयाऽनवस्था स्यात् न च सम्प्रतिपन्नै क्य व्यक्तिप्रतीतिवत् ससामान्येऽपि वस्तुन्येकरूपा प्रतीतिरुपजायते । यतः इदमित्थमिति सर्वत्र प्रकार प्रकारितयैव सर्वा प्रतीतिः । तत्र प्रकारांशो जातिः, प्रकार्यंशो व्यक्तिरिति नैकाकारा प्रतीतिः ।

अनु०–यदि प्रभाकर मीमांसक कहें कि कारणरूप से तथा जाति रूप से वस्तुओं में अभेद होता है। तथा कार्यरूप से तथा व्यक्ति

रूप से वस्तुओं भेद होता है। इसतरह आकार भेद के कारण एक ही वस्तु में भेद और अभेद मानने में कोई विरोध नहीं है। तो यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि आकार के भेद से भेद एवं अभेद में अविरोध मानने वाले का अभिप्राय क्या है? क्या वे यह मानते हैं कि एक आकार में भेद है और दूसरे आकार में अभेद है? अथवा दोनों आकारों से विशिष्ट वस्तु मे वे दोनों रहा करते हैं।

यदि पहला पक्ष माना जाय तो भेद तो व्यक्ति में है और अभेद जाति में है (क्योंकि वर्तुलाकार रूप जाति स्वरूप से घट सभी घट व्यक्तियों से भिन्न है।) अत एव एक ही वस्तु और अभेद दोनों से युक्त नहीं है। यदि कहें कि जाति और व्यक्ति दोनों एक ही वस्तु हैं तो फिर आकार भेद के कारण जो आप भेद और अभेद में विरोध का अभाव मानते थे उसे आपको छोड़ना होगा (यदि आप जाति और व्यक्ति में भेद और अभेद मानें तो फिर) जाति और व्यक्ति को एक मानने पर एक वस्तु में विलक्षणता और उसका अभाव मानने पर परस्पर में विरुद्ध होने के कारण नहीं रह सकते हैं।

(यदि आकार द्वयविशिष्ट वस्तु में रहने वाले भेदाभेद को मानें तो इस) दूसरे कल्प में परस्पर में विलक्षण जाति और व्यक्तिरूप दोनों आकार और उसके आश्रयभूत वस्तु की प्रतीति नहीं मानी जा सकती है। (यदि उनकी प्रतीति रूप तीसरा भी पक्ष मानें तो भी जाति; व्यक्ति और उनके आश्रयभूत वस्तु

एक दूसरे से भिन्न ही मानना होगा अभिन्न नहीं। यदि कहें कि आश्रयभूत वस्तु को जाति एवं व्यक्ति रूप दो आकारों से विशिष्ट होने के कारण उसमें भिन्नाभिन्नत्व मानने में कोई आपत्ति नहीं है। (तो मैं यह पूछता हूँ कि यह जो आकारद्वय है वह अपने आश्रयभूत वस्तु से भिन्न है? अथवा अभिन्न है? या भिन्नाभिन्न है? पहला पक्ष तो इस लिए नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि–) आश्रय से विलक्षण आश्रय के जो दो आकार हैं वे आश्रय में किस प्रकार दो विरोधी धर्मों के समावेश के निर्वाहक हो सकते हैं? (कहने का आशय यह है कि भेद और अभेद का एक ही आश्रय होने में विरोध है अविरोध के निर्वाहक दो आकार है वे तो भेद और अभेद के आश्रय हैं नहीं। आश्रय तो वस्तु है। अत एव वे अविरोध के निर्वाहक नहीं हो सकते हैं। वस्तु के जाति और व्यक्ति रूप आकार द्वय को तद्गतभेद अभेद का निर्वाहक बतलाना उसी तरह अनुचित है जिस तरह कोई यह कहे कि अग्नि में रहने वाले शैत्य और उष्णता नाम के विरोधी धर्मों के निर्वाहक अग्नि में पायी जानी वाली धवलिमा और लालिमा ये दोनों अग्नि के आकार हैं।) आकार द्वय और उसके आश्रयभूत वस्तु को अभिन्न मानने पर वे किस प्रकार अविरोध के निर्वाहक हो सकते हैं? आकार द्वय तथा उनके आश्रयभूत वस्तु में भेदाभेद मानने पर उनके निर्वाहक किसी आकार द्वय को भिन्नाभिन्न मानना होगा और उसके भी निर्वाहक आकार को भी; इस तरह अनवस्था

दोष होगा। यह नहीं कहा जा सकता है कि पूर्व ज्ञात व्यक्ति की एकता ज्ञान के ही समान जाति विशिष्ट वस्तु में भी एक रूपता की प्रतीति होती है। क्योंकि सभी ज्ञान यह है तथा इस प्रकार का है, इस तरह विशेषण विशेष्य रूप से ही होते हैं। तो जो वस्तु का विशेषणांश होता है वही जाति है तथा विशेष्य का जो अंश होता है वही व्यक्ति है, इस तरह कोई भी ज्ञान एक प्रकार का नहीं होता है।

टिप्पणी– तत्र प्रकारांशो जाति० इत्यादि वाक्य के द्वारा बतलाया गया है कि जो वस्तुओं की प्रतीति होती है उसके दो अंश होते हैं प्रकारांश एवं प्रकार्यांश। प्रकारांश जाति रूप से एवं विशेष्यांश व्यक्ति रूप से प्रतीत होता है। अतएव जाति एवं व्यक्ति को अभिन्न नहीं माना जा सकता है। भेदाभेद वादि जाति एवं व्यक्ति में अभेद के साधक चार हेतुओं को उपन्यस्त करते हैं।

(१) सामानाधिकरण्य प्रतीति– जाति एवं व्यक्ति को अभिन्न इसलिए मानना चाहिए कि उनकी समानाधिकरण्य रूप से प्रतीति विना मत्वर्थीय प्रत्यय के प्रयोग के ही हुआ करती है। गौः कहने से गोत्व जति एवं गो व्यक्ति दोनो की ही एक अधिकरण में प्रतीति होती है। जो भिन्न वस्तुएं होती हैं उनको एक अधिकरण में प्रतीति बिना मत्वर्थीय प्रत्यय के प्रयोग के नहीं होती है। दण्डी पुरुष, में मत्वर्थीय इनि के प्रयोग के कारण भिन्न दण्ड और उसको धारण करने वाले पुरुष की एक अधिकरण में प्रतीति होती है।

अभेदवादियों के इस कथन का खण्डन जाति एवं व्यक्ति में भेद मानने वाले वादी इस प्रकार करते हैं। सर्वत्र विशेषण विशेष्य में भेद होता ही है। किन्तु वहाँ पर मत्वर्थीय प्रत्यय के प्रयोग के बिना भी विशेषण और विशेष्य की एक अधिकरण में प्रतीति होती है, जहाँ पर विशेषण और विशेष्य में अपृथक् सिद्ध संबन्ध हो। जाति व्यक्ति का अपृथक् सिद्ध संबन्ध है, अत एव विशेषण एवं विशेष्य के भिन्न होने पर भी जाति और व्यक्ति की मत्वर्थीय प्रत्यय के बिना भी दोनों की समान अधिकरण में प्रतीति होती है।

(२) सहोपलब्धि– अभेद वादियों का यह भी कथन है कि चूंकि सर्वत्र जाति और व्यक्ति की सदा एक साथ ही प्रतीति होती है। जो भिन्न वस्तुएं होती हैं उनकी अलग-अलग भी प्रतीति होती है। जैसे दण्ड और उसको धारण करने वाले पुरुष सदा एक साथ ही रहें यह कोई नियम नहीं है। वे अलग भी उपलब्ध होते हैं। अत एव सिद्ध होता है कि जाति और व्यक्ति अभिन्न ही हैं भिन्न नहीं। इसका खण्डन इस तरह से होता है कि उन्हीं दो वस्तुओं की एक साथ उपलब्धि होती है जिनमें अपृथक् सिद्ध संबन्ध होता है। चूंकि जाति और व्यक्ति में अपृथक् सिद्ध संबन्ध होता है, अत एव परस्पर में भिन्न होने पर भी जाति और व्यक्ति दोनों की सहोपलब्धि हुआ करती है।

(३) एक शब्दानुविद्ध प्रत्यय– जाति और व्यक्ति में अभेद इसलिए स्वीकार करना चाहिए कि दोनों का ज्ञान एवं अभिधान एक ही शब्द से होता है। जैसे– गौः कहने से गो जाति और

व्यक्ति दोनों का ही एक शब्द से ज्ञान तथा अभिधान होता है। इसका उत्तर है कि– 'यह एक गो है'; इस प्रकार का ज्ञान उसी तरह से विशेषण विशेष्य की एकताको अपना विषय बनाता है जिस तरह से 'यह एक दण्डी है' यह ज्ञान। अत एव 'यह एक गी है' यह ज्ञान जाति और व्यक्ति की एकता को नहीं बतलाता है। अत एव जाति और व्यक्ति में अभेद नहीं माना जा सकता है।

(४) प्रथम पिण्ड ग्रहण में जाति और व्यक्ति के अभेद की प्रतीति– अभेद वादियों का यह भी कहना है कि जब किसी वस्तु का सर्व प्रथम साक्षात्कार होता है तो उस समय उसके जाति और व्यक्ति की अलग प्रतीति नहीं होती है जाति और व्यक्ति दोनो की अत एव पता चलता है कि जाति और व्यक्ति दोनों अलग अलग न होकर एक हैं। इसका समाधान यह है कि प्रथम साक्षात्कार में भी वस्तु के दो अंश अवश्य प्रतीत होते हैं। इसका समाधान यह है कि प्रथम साक्षात्कार में भी वस्तु के दो अंश अवश्य प्रतीत होते हैं एक तो विशेष्य का अंश जिसका 'इदम्' अथवा 'यह' शब्द से अभिधान तथा ज्ञान होता है। दूसरा ज्ञान का जो अंश होता है वह प्रकारांश अथवा विशेषणांश कहलाता है, जिसका 'इत्थम्' अथवा 'इस प्रकार' शब्द से अभिधान तथा ज्ञान होता है। जो विशेषणांश होता है वही जाति है और जो विशेष्यांश होता है वह व्यक्ति है। अत एव प्रथम साक्षात्कार काल में भी जाति तथा व्यक्ति की विशेषण तथा विशेष्य रूप प्रतीत होती ही है। अतएव दोनो एक नहीं भिन्न ही है। इसके अतिरिक्त जाति और व्यक्ति में इस लिए भी भेद सिद्ध होता है कि दोनों की सहोपलब्धि होती है।

ग्रोर सहशब्द का प्रयोग दो भिन्न वस्तुग्रों के संबन्ध को सूचित करता है। संबन्ध दो में होता है एक में नहीं।

किञ्च- सहोपलम्भ का नियम वहीं लागू होगा जहाँ भिन्न दो वस्तुग्रों की समान देश ग्रौर काल में उपलब्धि होती है। ग्रतएव जाति ग्रौर व्यक्ति में ग्रत्यन्त भेद होने पर भी दोनों की भिन्न देश काल में उपलब्धि इसलिए भी नहीं होती है कि जाति व्यक्ति में सदा व्याप्य वृति से विद्यमान रहती है।

मू०- ग्रत एव जीवस्यापि ब्रह्मणोभिन्नाभिन्नत्वं न सम्भवति। तस्मादभेदस्यानन्यथासिद्धशास्त्रमूलत्वादनाद्य विद्यामूल एव भेद प्रत्ययः। नन्वेवं ब्रह्मण एवाज्ञत्वम्। तन्मूलाश्च जरामरणादयो दोषः प्रादुःष्युः। ततश्च- 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' 'एष ग्रात्मापहतपाप्मा' इत्यादीनि शास्त्राणि वाध्येरन्। नैवम्, ग्रज्ञानादिदोषाणामपारमार्थत्वात्। भवतस्तूपाधि ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्त्वन्तरमनभ्युपगच्छतो ब्रह्मण्येवोपाधिसंसर्गः। तत्कृतश्च जीवत्वाज्ञत्वादयोदोषाः परमार्थत एव भवेयुः। नहि ब्रह्मणि निरवयवे ग्रच्छेद्यें सम्बध्यमाना उपाधयश्तच्छित्वा भित्वा वा सम्बध्यन्ते, ग्रपि तु ब्रह्मस्वरूपे संयुज्य तस्मिन्नेव स्व कार्याणि कुर्वन्ति।

अनु०– चूंकि भेद और अभेद परस्पर विरोधी पदार्थ हैं अतएव जीव का भी ब्रह्म से भेदाभेद सम्भव नहीं है । अतएव अभेद के अन्यथा सिद्ध शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण होने वाला भेद का ज्ञान अनादि काल से प्रवृत्त अज्ञान मूलक ही है । यदि यहाँ पर भेदाभेद वादी यह कहें कि, तो फिर उपाधि जन्य होने के कारण अज्ञत्व दोष ब्रह्म में ही आयेगा । साथ ही अज्ञता मूलक जन्म, जरा, मरण आदि दोष भी ब्रह्म में उत्पन्न होंगे । ऐसी स्थिति में ब्रह्म सर्वज्ञ एवं सर्ववेत्ता है, आत्मा पापरहित है' इत्यादि ब्रह्म को निर्दोष एवं सर्वज्ञत्व आदि गुणों के प्रतिपादक श्रुतियों का बाध होगा । तो यह शंका उचित नहीं है । अज्ञान आदि जो दोष हैं वे परमार्थ नहीं हैं । वस्तुतः ब्रह्म में कोई दोष नहीं होगा । आप भेदाभेदवादियों के मत में तो उपाधि को छोड़कर कोई दूसरी वस्तु स्वीकार नहीं की जाती है, अत एव उपाधि का सम्बन्ध ब्रह्म से ही होगा और उपाधि जन्य जीवत्व, अज्ञत्व आदि दोष परमार्थ रूप से ही ब्रह्म को दूषित करेंगे । ब्रह्म तो अवयव रहित, और अच्छेद्य है अतएव उससे सम्बन्धित होने वाली उपाधियाँ ब्रह्म को छिन्न भिन्न करके उससे सम्बद्ध नहीं होंगी बल्कि वे ब्रह्म के स्वरूप में संयुक्त होकर उसमें ही अपने कार्यों को करती हैं ।

मू०—यदि मन्यीत । उपाध्युपहितं ब्रह्म जीवः, स चाणु परिमाणः, अणुत्वञ्चावच्छेदकस्य मनसोऽणुत्वात्. सच ावच्छेदोऽनादिः, एवमुपाध्युपहितांशे सम्बध्यमानाः

दोषा अनुपहिते परे ब्रह्मणि न सम्बन्ध्यन्त इति । अयं प्रष्टव्यः किमुपाधिना छिन्नो ब्रह्माखण्डोऽणुरूपो जीवः ? उतच्छिन्न एवाणुरूपोपाधिसंयुक्तो ब्रह्मप्रदेश विशेषः ? उतोपाधिसंयुक्तं ब्रह्मस्वरूपम् ? अथोपाधि संयुक्तं चेतनान्तरम् ? अथोपाधिरेव ? इति । अच्छेद्यत्वाद्ब्रह्मणः प्रथमः कल्पो न कल्पते । आदिमत्त्वं च जीवस्य स्यात् । एकस्य सतो द्वैधीकरणं हि छेदनम् । द्वितीये तु कल्पे ब्रह्मण एव प्रदेशविशेषं उपाधि सम्बन्धादौपाधिकाः सर्वे दोषास्तस्यैव स्युः । उपाधौ गच्छत्युपाधिना स्वसंयुक्त ब्रह्मप्रदेशाकर्षणा-योगादनुक्षणमुपाधिसंयुक्तब्रह्म प्रदेशभेदात् क्षणे-क्षणे बन्धमोक्षौ च स्याताम् । आकर्षणे चाच्छिन्नत्वात् कृत्स्नस्य ब्रह्मण आकर्षणं स्यात् । निरंशस्य व्यापिन आकर्षणं न सम्भवतीति चेत्, तर्हि उपाधि-रेव गच्छतीति पूर्वोक्त एव दोषः स्यात् । अच्छिन्न ब्रह्मप्रदेशेषु सर्वोपाधि संसर्गे सर्वेषां च जीवानां ब्रह्म एव प्रदेशत्वेनैकत्वेन प्रतिसन्धानं स्यात् । प्रदेश

भेदादप्रतिसन्धाने चैकस्यापि स्वोपाधौ गच्छति प्रति न्धानं न स्यात् ।

तृतीये तु कल्पे ब्रह्मस्वरूपस्यैवोपाधि सम्बन्धेन जीवत्वापातात्। तदतिरिक्तानुपहितब्रह्मासिद्धिः स्यात्। सर्वेषु च देहेष्वेक एव जीवः स्यात्। तुरीये तु कल्पे ब्रह्मणोऽन्य एव जीव इति जीवभेदस्यौपाधिकत्वं परित्यक्तं स्यात्। चरमे चार्वाकपक्ष एव परिगृहीतः स्यात्। तस्मादभेदशास्त्रबलेन कृत्स्नस्य भेदस्या विद्यामूलत्वमेवाभ्युपगन्तव्यम्। अतः प्रवृत्तिनिवृत्ति प्रयोजन परतयैव शास्त्रस्य प्रामाण्येऽपि ध्यानविधि शेषतया वेदान्त वाक्यानां ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्यमुपपन्न-मिति ।

अनु०- यदि भेदाभेदवादीयह कहें कि- उपाधि से उपहित ब्रह्म ही कहलाता है, और उसका परिमाण अणुमात्र है। चूंकि मन अणु परिमाण वाला है. अत एव जीव का जो अवच्छेदक है वही अण परिमाण वाला है। (यहां पर यह नहीं कहा जा सकता है कि जब उपाधि अवच्छेदक बने तो फिर ब्रह्म में जीव भाव आये और जब ब्रह्म में जीव भाव आये तब उपाधि अवच्छेदक बने। किञ्च कर्मों से जीव भाव और जीव भाव से

कर्म सम्भव है । इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा ।) तो यह नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि—) उपाधि का अवच्छेद अनादि है । इस तरह उपाधि से उपहित अंश में सबद्ध होने वाले दोष उपाधि रहित परं ब्रह्म में नहीं संबद्ध होते हैं ।

तो यहाँ पर यह जिज्ञासा होती है कि— क्या उपाधि ब्रह्म के जिस अंश को काट कर अलगा देता है, वही अणु स्वरूप जीव है ? अथवा उपाधि के द्वारा विना कटा हुआ ही अणु स्वरूप उपाधि से सयुक्त ब्रह्म का प्रदेश विशेष जीव कहलाता है ? अथवा उपाधि से सयुक्त ब्रह्म स्वरूप ही जीव कहलाता है ? अथवा उपाधि से संयुक्त कोई दूसरा चेतन जीव कहलाता है । या उपाधि को ही जीव कहते हैं ?

पहला पक्ष तो इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता है कि ब्रह्म अच्छेद्य है, अतएव उपाधि उसका छेदन नहीं कर सकती है । किञ्च आपके मत मे जीव अनादि है यदि छिन्नांश को ही जीव माना जाय तो फिर जीव सादि होगा । क्योंकि किसी एक भाव पदार्थ को दो भागों में विभक्त करने को ही छेदन कहते हैं ।

यदि दूसरा कल्प स्वीकार किया जाय तो ब्रह्म के ही किसी खास प्रदेश में उपाधि का संबन्ध होने के कारण उपाधि जन्य सभी दोष ब्रह्म के ही दोष होंगे । उपाधि के चलने पर उपाधि के द्वारा उपाधि से संबद्ध ब्रह्म प्रदेश का आकर्षण संभव नहीं हो सकने के कारण प्रत्येक क्षण में उपाधि से संयुक्त ब्रह्म प्रदेश

के बदलते रहने के कारण क्षण-क्षण में उन-उन प्रदेशों के बन्ध और मोक्ष होने लगेंगे। (जैसे एक ही महाकाश जब घटादि उपाधियों से उपहित होकर घटाकाश आदि शब्दों से अभिहित होता है। घट आदि उपाधियों के चलने से प्रत्येक क्षण में घटाकाश आदि बदलते रहते हैं। उसी तरह ब्रह्म की उपाधि के चलने पर प्रत्येक क्षण में तत् तत् प्रदेशों के मोक्ष होने लगेंगे।) यदि उपाधि के द्वारा आकर्षण माना जाय तो ब्रह्म के अच्छिन्न होने के कारण सम्पूर्ण ब्रह्म उपाधि के द्वारा आकृष्ट होने से । घसिटाने लगेगा।

यदि कहें कि अंश रहित व्यापक ब्रह्म का आकर्षण सम्भव नहीं है तो फिर यही मानना होगा कि उपाधि ही चलती है तो फिर ऐसा मानने पर प्रथम कल्प में कहे गये ही दोष होंगे। अच्छिन्न ब्रह्म प्रदेशों में उपाधि का संसर्ग मानने पर सभी जीव ब्रह्म के ही प्रदेश होंगे अत एव सबों का एक रूप से ही प्रतिसंधान होगा। यदि कहें कि चूंकि सभी उपाधियों का अपना प्रदेश अलग-अलग है अत एव उनकी एकता की प्रतीति कैसे संभव है ? तो फिर यह कहने का आशय होगा कि ज्यों ही किसी जीव की उपाधि चलती है तत्क्षण ही उसकी सत्ता भी समाप्त हो जाती है। इस तरह अपनी उपाधि के चलने पर एक भी जीव की प्रतीति नहीं हो सकती।

यदि तीसरा पक्ष मानें तो फिर ब्रह्म के स्वरूप का ही उपाधि से संबन्ध होने के कारण वही जीव हो जायेगा। फलतः जीव से

अतिरिक्त उपाधि रहित ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है। किञ्च- सभी शरीरों में रहने वाला जीव एक होगा। यदि चौथा पक्ष मानें तो ब्रह्म से भिन्न ही जीव सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में यह आप नहीं कह सकते हैं कि ब्रह्म का औपाधिक भेद जीव है। यदि अन्तिम पक्ष स्वीकार करें तो, फिर जिस तरह देहादि उपाधियों को चार्वाकमतानुयायी जीव मानते हैं, उसी तरह से आप का भी मत प्रकारान्तर से चार्वाक मत में ही परिणत हो जायेगा।

इस तरह अभेद शास्त्र के सहारे सम्पूर्ण भेद को अविद्या-मूलक ही मानना होगा। इसलिए चूंकि शास्त्र का प्रयोजन है जीव को किसी अच्छे काम में प्रवृत करना तथा बुरे काम से निवृत्त करना, अत एव ही शास्त्र की प्रमाणिकता किये जाने पर भी ध्यान विधि के शेष (पूरक) रूप वेदान्त वाक्यों को ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादन में प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए।

॥ ध्यान विधि शेष वादी के मत का खण्डन ॥

मू०– तदप्युक्तम्– ध्यानविधिशेषत्वेऽपि वेदान्तवाक्यानाम् अर्थसत्यत्वे प्रमाण्यायोगात्। एतदुक्तं भवति- ब्रह्मस्व-रूपगोचराणि वाक्यानि किं ध्यानविधिना एकवाक्य-तामापन्नानि ब्रह्मस्वरूपे प्रामाण्यं प्रतिपद्यन्ते ? उत स्व-तन्त्राण्येव ? एकवाक्यत्वे ध्यानविधिपरत्वेन ब्रह्मस्वरूपे

तात्पर्यं न सम्भवति भिन्नवाक्यत्वे प्रवृत्तिनिमित्त प्रयोजनविरहात् अनवबोधकत्वमेव । न च वाच्यम्— ध्यानं नाम स्मृति सन्ततिरूपम् । तच्च स्मर्तव्यैकनिरूपणीयमिति ध्यानविधेः स्मर्त्तव्यविशेषाकांक्षायाम् 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० ४।४।६) 'ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० ४।४।२९) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादीनि ब्रह्मस्वरूपतद्विशेषादीनि समर्पयन्ति । तेनैकवाक्यतापन्नानि अर्थसद्भावे प्रमाणमिति, ध्यानविधेः स्मर्तव्यविशेषापेक्षत्वेऽपि 'नाम ब्रह्म' इत्यादिदृष्टविधिवदसत्येनाप्यर्थ विशेषेण ध्याननिवृत्तिरुपपत्तेः ध्येयसत्यत्वानपेक्षणात् । अतो वेदान्तवाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनविधुरत्वाद् ध्यानविधिशेषत्वेऽपि ध्येयविशेषस्वरूपसमर्पणमात्रपर्यवसानात् स्वातन्त्र्येऽपि बालातुराद्युपच्छन्दन वाक्यवत् ज्ञानमात्रेणैव पुरुषार्थपर्यन्ततासिद्धेश्च परिनिष्पन्नवस्तुसत्यता गोचरत्वाभावात् ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं न सम्भवतीति प्राप्तम् ।

अनु०— (ध्यानविधि के शेष (पूरक) रूप से वेदान्त वाक्यों को मानने वाले अद्वैती विद्वानों के मत का खण्डन करते हुए मीमांसक विद्वानों का कहना है कि) उपर्युक्त प्रतिपादन उचित नहीं है।

यदि वेदान्त वाक्यों को ध्यानविधि का शेष मान भी लिया जाय तो भी उनके ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादन रूप अर्थ की प्रामाणिकता नहीं स्वीकार की जा सकती है। कहने का आशय है कि ब्रह्म के स्वरूप को अपना विषय बनाने वाले ये वाक्य किस प्रकार से ब्रह्म के स्वरूप प्रामाण्य का प्रतिपादन करते हैं ? ध्यानविधि के द्वारा एक वाक्यता को प्राप्त होकर अथवा स्वतन्त्र रूप से ?

यदि कहें कि ध्यान विधि के द्वारा एक वाक्यता को प्राप्त होकर सभी वेदान्त वाक्य ब्रह्म के स्वरूप में प्रामाण्य का प्रतिपादन किया करते हैं तो यह नहीं कह सकते हैं। क्योंकि ध्यान विधि का प्रतिपादन करने पर उनका तात्पर्य ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादन में नहीं माना जा सकता है। स्वतन्त्र रूप से भी अलग अलग वेद वाक्यों को ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन इस लिए नहीं माना जासकता है कि उनके प्रवृत्ति एवं निवृत्तिरूप कोई प्रयोजन नहीं है अतएव ये वाक्य बोधक नहीं हो सकते हैं।

यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता है कि स्मृति की धारा को ही ध्यान कहते हैं, और उस ध्यान का निरूपण बिना ध्येय के हो नहीं सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस ध्यान विधि का ध्येयभूत स्मर्तव्य विशेष कौन है ? तो इसके विषय में यह सब कुछ जो प्रपञ्चरूप से प्रतीत होता है, वह ब्रह्मस्वरूप ही है। ब्रह्म सम्पूर्ण अनुभवरूप है। वह ब्रह्म सत्य स्वरूप ज्ञान स्वरूप एवं आनन्द स्वरूप है। ये सभी वाक्य ब्रह्म के स्वरूप एवं उसकी विशेषता आदि को बतलाते हैं। अत एव इन सभी

वाक्यों की एक वाक्यता होने के कारण ये सभी वेदान्त वाक्य ब्रह्म के स्वरूप में प्रामाण्य भाव का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि ध्यान विधि को स्मर्तव्य विशेष की अपेक्षा होती है। फिर भी नाम को ही ब्रह्म रूप से उपासना करें' इत्यादि वाक्यों में जो देखी गई विधि है उसमें विशेषण की सत्यता रहने पर भी विशेषण की असत्यता रहने से विशिष्ट में ही विधि का तात्पर्य माना जाता है। और उसी के द्वारा ध्यान की निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। उसके लिए ध्येय की सत्यता अपेक्षित है। अत एव वेदान्त वाक्य चूंकि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति रूप प्रयोजन से रहित हैं अत एव ध्यान विधि के पूरक होने पर भी चूंकि उनका पर्यवसान ध्येय विशेष के स्वरूप मात्र के प्रतिपादन में होता है अत एव सभी वाक्यों को पृथक-पृथक मान लेने पर भी बालकों एवं रोगियों को भुलावा देने के लिए कहे गये वाक्य के समान उनकी ज्ञान मात्र से ही पुरुषार्थ के प्रतिपादकता की सिद्धि हो जाती है। इस तरह सिद्ध वस्तु की सत्यता को उनका विषय न हो सकने के कारण, नहीं कहा जा सकता है कि ब्रह्म में प्रमाण शास्त्र नहीं हैं। इस तरह से मीमांसकों का पूर्व पक्ष पूरा हुआ।

॥ सिद्धान्ती द्वारा मीमांसकों के पूर्वपक्ष का खण्डन ॥

मू०– तत्र प्रतिपद्यते– 'तत्तु समन्वयात्' इति। समन्वयः सम्यगन्वयः, पुरुषार्थतयान्वय इत्यर्थः। परमपुरुषार्थ-

भूतस्यानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽभिधेय-तयाऽन्वयात् तत् = शास्त्र प्रमाणकत्वं सिद्धयत्येवे-त्यर्थः । निरस्तानिखिलदोषनिरतिशयानन्दस्वरूपतया परमप्राप्यं ब्रह्म बोधयन् वेदान्तवाक्यगणः प्रवृत्ति-निवृत्तिपरताविरहान्न प्रयोजन पर्यवसायीति ब्रुवाणो राजकुलवासिनः पुरुषस्य कौलेयककुलाननुप्रवेशेन प्रयो-जनशून्यतां ब्रूते । एतदुक्तं भवति—अनादिकर्मरूपावि-द्यावेष्टन तिरोहित परावरतत्त्व याथात्म्य स्वरूपा-वबोधानांदेवासुर गन्धर्वसिद्धविद्याधरकिन्नरकिम्पुरुष-यक्षराक्षसपिशाच मनुजपशुशकुनि सरीसृपवृक्षगुल्मल-तादूर्वादीनां स्त्रीपुंनपुंसकभेदभिन्नानां क्षेत्रज्ञानां व्य-वस्थितधारणपोषकभोग्यविशेषाणां मुक्तानां स्वस्य चाविशेषेणानुभवसम्भव स्वरूपरूपगुणविभवचेष्टितैः अनवधिकातिशयानंदजनकं परं ब्रह्मास्तीति बोधयदेव वाक्यं प्रयोजनपर्यवसायि प्रवृत्ति निवृत्ति निष्ठन्तु यावत्पुरुषार्थान्वयबोधं न प्रयोजन पर्यवसायि ।

अनु०— मीमांसकों द्वारा पूर्व पक्ष के उपस्थित होने पर निम्न सूत्र सिद्धान्त रूप से प्राप्त होता है। –'तत्तुसमन्वयात् ।' (अर्थात्

ब्रह्म में शास्त्र काप्रमाण्य इसलिए स्वीकार किया जाता है कि वही पुरुषार्थ रूप से अन्वित होता है। सम्यक् अन्वय को समन्वय कहते हैं। पुरुषार्थ रूप से अन्वय होने को सम्यक अन्वय कहते हैं। चूंकि परमपुरुषार्थ स्वरूप सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्दस्वरूप ब्रह्मका ही अभिधेय रूप से अन्वय होता है। अत एव, तत् = ब्रह्म में शास्त्र के प्रमाण्य की सिद्धि होती ही है। यह इस सूत्र का अर्थ है।

वेदान्त के वाक्यगण सभी दोषों से रहित तथा सीमातीत आनन्द स्वरूप होने के कारण सर्वोत्कृष्ट प्राप्यरूप से ब्रह्म को बतलाते हैं। अत एव प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के प्रतिपादक नहीं होने के कारण उन वाक्यों का किसी प्रयोजन में पर्यवसान नहीं हो सकता है। इस प्रकार से कहने वाले मीमांसको का कथन उसो प्रकार से अनुचित है जिस तरह से कोई यह कहे कि यह राजकुलवासी पुरुष कभी म्लेच्छों के घर में प्रवेश नहीं करता, अत एव यह निष्प्रयोजन मानव है। कहने का आशय है कि अनादि कर्म के कारण अविद्या रूपी वेष्टन से जिनका पर एवं अवरतत्त्व के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान तिरोहित हो छिप गया है, ऐसे देव असुर, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, किन्नर, किम्पुरुष, यक्ष, राक्षस, पिशाच, मानव, पशु, पक्षी, सरीसृप (सर्प) वृक्ष, लता, गुल्म, दूर्वा आदि स्त्री, पुरुष, नपुंसक, योनियों में विभक्त जीवों के परमात्मा को ही अपना अवलम्बन, धारक एवं भोग्य विशेष मानने वाले मुक्त जीवों के, तथा अपने (बद्ध जीवों के) समान रूप में अनुभव संभव होने पर अपने स्वरूप, रूप, गुण ऐश्वर्य तथा

चेष्टाओं द्वारा सीमातीत सर्वोत्कृष्ट आनन्द के जनक परं ब्रह्म हैं, इस तरह बतलाते हुए ही वेदान्त वाक्यों का प्रयोजन में पर्यवसान हो जाता है। केवल प्रवृत्तिनिष्ठ एवं निवृत्तिनिष्ठ वाक्यों का समस्त पुरुषार्थों से अन्वय का ज्ञान न होने से वे प्रयोजन पर्यवसायी नहीं माने जा सकते हैं।

संबन्ध ज्ञान पूर्वक उपासना ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन है॥

एवं भूतं ब्रह्म कथं प्राप्यत इत्यपेक्षायां 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'आत्मानमेव लोकमुपासीत्' इति वेदनादिशब्दैरुपासनं ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते। यथा स्ववेश्मनि निधिरस्तीति वाक्येन निधिसद्भावं ज्ञात्वा तृप्तस्सन पश्चात्तदुपादाने च प्रयतते यथा च कश्चिद्राजकुमारो वालक्रीडासक्तो नरेन्द्रभवनान्निष्क्रान्तः मार्गाद्भ्रष्टो नष्ट इति राज्ञाविज्ञातः स्वयञ्चाज्ञातपितृकः केनचिद् द्विजवर्येण वर्द्धितः अधिगत वेदशास्त्रः षोडशवर्षः सर्वकल्याणगुणाकरः तिष्ठन् पिता ते सर्वलोकाधिपतिः गाम्भीर्यौदार्य—वात्सल्यसौशील्य शौर्य.वीर्य. पराक्रमादिगुणसम्पन्नः त्वामेव नष्टं पुत्रं दिदृक्षु पुरवरे तिष्ठति' इतिकेनचिदभियुक्ततमेन प्रयुक्तं वाक्यं श्रृणोति चेत्,

तदानीमेवाहं तावज्जीवतः पुत्रः, मत्पिता च सर्व-सम्पत् समृद्धः' इति निरतिशय हर्षं समन्वितो भवति, राजा च स्वपुत्रं जीवन्तमरोगमतिमनोहरदर्शनं त्रि-दितसकलगणं श्रुत्वा अवाप्त समस्त पुरुषार्थो भवति। पश्चात् तदुपादाने च प्रयतते । पश्चात् तावुभौ सङ्गच्छेते चेति ।

अनु०- अब प्रश्न यह उठता कि है उपर्युक्त गुण गण विशिष्ट परं ब्रह्म की प्राप्ति कैसे होती है ? तो इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म के वेदन से सम्पन्न ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । इस श्रुति में वेदन शब्द वाच्य क्या है ? इसका उत्तर एक श्रुति बतलाती है कि सम्पूर्ण लोक की ब्रह्मात्मक रूप से उपासना करे । इस श्रुति से पता चलता है कि ब्रह्म की प्राप्ति का साधनभूत वेदन उपासना रूप ज्ञान ही है । इस तरह से ये सभी श्रुतियाँ वेदन आदि शब्दों के द्वारा उपासना को ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय बतलाती हैं ।

जैसे किसी व्यक्ति को इस बात का पता चल जाय कि अपने घर में हा खजाना पड़ा हुआ है तो इस वाक्य के अर्थ के द्वारा अपने घर में खजाने का सद्भाव जानकर वह उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है । जैसे कोई बालकों के साथ खेलता हुआ राजकुमार राजभवन से निकल कर मार्ग में भूल जाय । राजा को भी इस बात का पता चला जाय कि मेरा पुत्र भूल गया

अब वह नहीं मिल सकता है। उस लड़के को भी अपने पिता का पता नहीं हो। संयोगवशात् वह बच्चा किसी श्रेष्ठ ब्राह्मण को मिल जाय। और वह उस ब्राह्मण के ही यहां सभी वेदशास्त्रों का अध्ययन कर लिया हो इस तरह से सभी कल्याण गुणों से परिपूर्ण होकर जब वह किसी अत्यन्त प्रामाणिक व्यक्ति के मुख से यह वाक्य सुनता है कि 'तुम्हारे पिता सम्पूर्ण संसार के स्वामी हैं, वे गम्भीर्य, औदार्य, वात्सल्य, सौशील्य, शौर्य वीर्य, पराक्रम आदि गुणों से युक्त हैं, और तुम भूले हुए पुत्र को देखने की इच्छा से युक्त होकर अपने राजधानी में निवास करते हैं।' तब उस लड़के को ज्ञान हो जाता है कि मेरे पिता जीवित हैं और सभी सम्पत्तियों से समृद्ध हैं। इस तरह से जानकर उसे सीमातीत हर्ष की प्राप्ति होती है। राजा भी जब यह जानता है कि मेरा पुत्र जो रहा है। वह स्वस्थ एवं देखने में अत्यन्त मनोहर है। जिन बातों को जानना चाहिए वह उन सबों का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस बात को सुन कर राजा भी अपने को कृत-कृत्य मानता है। फिर लड़के को प्राप्त करने का प्रयास करता है। और इस तरह से पिता पुत्र दोनों मिल जाते हैं।

इसी तरह सम्पूर्ण जगत् के एक मात्र पिता अखिल कल्याण गुणगणाकर परं ब्रह्म हैं। जीव अनादि काल से माया के जाल में भूला हुआ है शास्त्रों का अध्ययन करके जब वह जीव परं ब्रह्म के स्वरूप एवं स्वभाव को जान लेता है तब फिर वह उसकी उपासना करके परं ब्रह्म को प्राप्ति रूपी जीवन के चरम लक्ष्य रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

मू०यत्पुन: परिनिष्पन्नवस्तुगोचरस्य वाक्यस्य तज्ज्ञान-मात्रेणापि पुरुषार्थं पर्यवसानात् बालातुराद्युपच्छन्दन वाक्यवत् नार्थं सद्भावे प्रामाण्यमिति । तदसत्; अर्थसद्भावे निश्चिते; ज्ञातोऽप्यर्थः पुरुषार्थाय न भवति । बालातुरादीनामप्यर्थं सद्भावभ्रान्त्या हर्षाद्युत्पत्तिः; तेषामेव तस्मिन्नेव ज्ञाने विद्यमाने यद्यर्थाभाव निश्चयो जायेत ततस्तदानीमेव हर्षादयो निवर्तेरन् । औप-निषदेष्वपि वाक्येषु ब्रह्मास्तित्व तात्पर्याभावनिश्चये ब्रह्मज्ञाने सत्यपि पुरुषार्थे पर्यवसानं न स्यात् । अत: 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । इत्यादि वाक्यं निखिलजगदेककारणं निरस्त निखिल दोषगंधं सर्वज्ञ सत्यसंकल्पत्वाद्यनन्त कल्याण गुणाकरमनवधिका तिशयानंदब्रह्मास्तीति बोधयतीति सिद्धम् ।

अनु०– मीमांसक विद्वानों ने यह जो कहा है कि सिद्ध ब्रह्म के बोधक वाक्यों के विषय कासद्भाव के अभाव में प्रमाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है । क्योंकि ऐसे वाक्यों के अर्थ का ज्ञानहाने मात्र से भी उनका पुरुषार्थ में पयवस न हो जाता है । उन वाक्यों का अर्थ सद्भाव में प्रमाण्य उसी तरह से नहीं माना जा सकता है जिस तरह किसी बच्चे अथवा किसी रोगी को भुलावा देने के लिए उसके मनोनुकूल कोई बात कह दी जाय । (जैसे

किसी रोगी को दवा पीने के लिए यह कह दिया जाय कि यदि यह दवा खा लो तो तुम्हे मिष्ठान्न देंगे।' लेकिन दवा पी लेने के वाद भी रोगी को मिष्टान्न नहीं दिया जाता है। उसी तरह से सिद्धब्रह्म के बोधक वाक्य भ्रम एवं प्रमा का समान रूप से प्रतिपादन करते हैं।) तो मीमांसकों का यह कथन उचित नहीं है

क्योंकि अर्थ के सद्भाव का अभाव निश्चित रूप से ज्ञात हो जाने पर वाक्यों का अर्थ ज्ञान हो जाने पर भी उस ज्ञान से पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वालकों एवं आतुरों को भी यह जानकर ही हर्ष आदि की उत्पत्ति होती है कि हमें यह वस्तु मिलेगी। वालकों एवं आतुरों को यदि इस वात का पता चल जाय कि जिस वस्तु को हमे देने को कहा गया है, वह है ही नहीं तो फिर उनको हर्ष नहीं हो सकता है। इसी तरह यदि उपनिषद् के वाक्यों के पढ़ने के पश्चात भी इस अर्थ का निश्चित ज्ञान हो जाय कि इन वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म है ही नहीं तो फिर ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी उन वाक्यों का पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं हो सकता है। अतएव 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि वाक्य सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र कारण सभी दोषों के गन्ध से रहित सर्वज्ञत्व सत्यसंकल्प, आदि अनन्त कल्याण गुणों के एकमात्र आकर सीमातीत आनन्दस्वरूप ब्रह्म है। यह वतलाते हैं, यह सिद्ध हुआ।

—:चतुः सूत्री समाप्तः—

॥ अथ ईक्षत्यधिकरण ॥

मूल०– 'यतो वा इमानि' इत्यादि जगत् कारणवादिवाक्य प्रतिपाद्यं सर्वज्ञं सर्वशक्ति समस्त हेयप्रत्यनीकं कल्याण गुणैकतानं ब्रह्मजिज्ञास्यमित्युक्तम् । इदानीं जगत्कारणवादि वाक्यानां आनुमानिक प्रधानादि प्रतिपादनानर्हतोच्यते । ईक्षतेर्नाशब्दमित्यादिना ।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।१।१।५।

इदमाम्नायते छान्दोग्ये— "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत इत्यादि । तत्र सन्देहः– किं सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणं परोक्तमानुमानिकं प्रधानम् ? उतोक्तलक्षणं ब्रह्म ? इति किं प्राप्तम् ? प्रधानमिति । कुतः ? सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इतीदं शब्दवाच्यस्य चेतनभोगभूतस्य सत्त्वरजस्तमोमयस्य वियदादिनानारूप विकारावस्थस्य वस्तुनः कारणावस्थां वदति । कारणभूतद्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता । अतो यद्द्रव्यं यत्स्वभावञ्च कार्यावस्थं तत्स्वभावं तदेव द्रव्यं कारणावस्थम् । सत्त्वादिमयञ्च

कार्यमिति गुणसाम्यावस्थं प्रधानमेव कारणम् । तदेवोपसंहृत सकल विशेषं सन्मात्रमिति–सदेवसौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यभिधीयते । तत एव च कार्यकारणयोरनन्यत्वम्, तथा सति एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपपत्तिः । अन्यथा—यथासोम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादि मृत्पिण्ड तत्कार्य दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकयोर्वैरूप्यं चेति जगत् कारणवादिवाक्येन महर्षिणाकापिलेनोक्तं प्रधानमेव प्रतिपाद्यते । प्रतिज्ञादृष्टान्त रूपेणानुमानवेद्यमेव चेदं वाक्यमिति सच्छब्दवाच्यमानुमानिकमेव ।

संगतिः-- पहले सूत्र में जिज्ञास्य ब्रह्म का उद्देश किया गया है । दूसरे सूत्र में ब्रह्म का लक्षण बतलाया गया है और तीसरे एवं चौथे सूत्र में ब्रह्म के शास्त्रप्रमाणकत्व का समर्थन किया गया है । अब इस अधिकरण में यह बतलाया जा रहा है कि ब्रह्म प्रकृति एवं जीव से भिन्न ही है।

अनुवाद – 'यतो वा इमानि' इत्यादि जगत् के कारण तत्व को बतलाने वाले वाक्यों से प्रतिपादित किये जाने वाले सर्वज्ञ सर्व -शक्ति सम्पन्न अखिल हेयप्रत्यनीक कल्याण गुणों के एकमात्र आश्रय ब्रह्म ही जानने योग्य हैं, यहउपर्युक्त चतुस्सूत्री के द्वारा बतलाया गया है। अब ईक्षतेर्ना शब्दम्' इत्यादि सूत्रों के द्वारा बतलाया जा रहा है कि जगत् के कारण तत्व को बतलाने वाले

वेदान्त वाक्य अनुमान के द्वारा जानने योग्य प्रधान (प्रकृति) आदि का प्रतिपादन कारण रूप से नहीं करते हैं।

'इक्षतेर्ना शब्दम्'

अर्थात् शब्द प्रमाण जिस का प्रतिपादन नहीं करता वह आनुमानिक प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि सच्छब्दवाच्य जगत् के कारण तत्व का ईक्षण रूप व्यापार विशेष वेदान्तों में सुना जाता है।यही इस सूत्र का अर्थ है।

छान्दोग्योपनिषत् के छठे अध्याय में श्रुति बतलाती है कि – हे सोमरस पानार्ह सच्छिष्य श्वेतकेतो ! सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् एकमात्र एवं अद्वितीय था। उसने ईक्षण किया कि मैंअनेक हो जाऊँ तदर्थ प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होऊँ। इत्यादि। यहाँ यह शंका होती है कि क्या इस श्रुति में सत् शब्द से जगत् के कारण रूप से सांख्य मतोक्त आनुमानिक (अनुमान सिद्ध) प्रकृति को ही कारण बतलाया गया है? अथवा उपर्युक्त सूत्रों में वर्णित स्वरूप वाला ब्रह्म? क्या माना जाय? इस पर सांख्य मतावलम्बी का कहना है कि प्रकृति को ही उक्त श्रुति में सत् शब्द सेबतलाया गयाहै। क्योंकि –'हे सोम रस पानार्ह यह सम्पूर्ण जगत् सृष्टि से पूर्व सत् रूप अद्वितीय था, यह श्रुति इदम् शब्द से कही जाने वाली,जीवों के भोग्यभूत सत्त्वगुण, रजोगुणएवं तमोगुण प्रचुर आकाश आदि अनेक विकारों में परिणत होने वा ली प्रकृति को ही जगत् की कारणावस्था बतलाती है। कारण भूत ही द्रव्य जब दूसरी अवस्था को धारण करती है तो वह उसका कार्य कहलाता है अतएव कार्या

-वस्था में जिस द्रव्य का जो स्वभाव होता है कारणावस्था में भी वही द्रव्य तथा उसका वही स्वभाव होता है। चूंकि कार्य जगत् सत्व आदि गुण प्रचुर देखा जाता है अतएव गुणों की साम्यावस्था से युक्त प्रकृति ही जगत् का कारण है। उसी को सारे विशेषों से रहित होने कारण "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेक मेवाद्वितीयम्" श्रुति सत् शब्द से अभिहित करती है। इसलिए कारण और कार्य में अभेद सिद्ध होता है। और ऐसा ही मानने पर एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा सिद्ध होती।

ऐसा नहीं मानकर कारण और कार्य में भिन्नता मानने से 'हे सोमरस पानार्ह श्वेतकेतो ! जिस तरह एक मिट्टी के पिण्ड से' इत्यादि श्रुति में जो मिट्टी के पिण्ड और उसके कार्य घटादि का दृष्टान्त दिया गया है। उस दृष्टान्त की दार्ष्टान्तिक से भिन्नता होगी। इस तरह जगत् के कारण तत्त्व को बतलाने वाले वाक्य के द्वारा महर्षि कपिल प्रकृति का ही कारणरूप से प्रतिपादन करते हैं। किन्च यह वाक्य प्रतिज्ञा और दृष्टान्त संयुक्त होने से अनुमान स्वरूप ही है। इस तरह सत् शब्द वाच्य आनुमानिक प्रकृति ही कारण है।

मूल- इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते- ईक्षतेर्नाशब्दमिति। यस्मिन् शब्द एव प्रमाणं न भवति तदशब्दम्, आनुमानिकम् प्रधान-मित्यर्थः। न तज्जगत्कारणवादि वाक्य प्रतिपाद्यम्। कुतः ? ईक्षते – सच्छब्दवाच्यसंबन्धिव्यापार विशेषा-भिधायिन ईक्षतेर्धातोः श्रवणात्। 'तदैक्षत बहुस्यां

प्रजायेय' इति ईक्षण क्रियायोगश्चाचेतने प्राधाने न सम्भवति, अत इदृशेक्षणक्षमश्चेतनविशेषः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः पुरुषोत्तमः सच्छब्दाभिधेयः । तथा च सर्वेष्वेवसृष्टिप्रकरणेष्वीक्षा पूर्विकैव सृष्टिः प्रतीयते। 'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमांल्लोकानसृजत ।' (ऐ०१।१)'स ईक्षाञ्चक्रे स प्राणमसृजत' (ऐ०१।२) इत्यादिषु ।

अनु०- उपर्युक्त प्रकार के पूर्वपक्ष के उपस्थित होने पर सूत्रकार कहते हैं- ईक्षतेर्नाशब्दम्' जो शब्द प्रमाण का विषय न बने उसे अशब्द कहते हैं । अत एव यहाँ पर अशब्द शब्द से अनुमान सिद्ध प्रधान (प्रकृति) को बतलाया गया है। उस प्रधान का प्रतिपादन जगत्कारण वादी वाक्य सत् शब्द से नहीं करते हैं। क्योंकि वेदान्तों में सत् शब्द वाच्य जगत् कारण के व्यापार विशेष के वाचक ईक्ष धातु का प्रयोग सुना जाता है। छान्दोग्य श्रुति बतलाती है कि 'उस सत् शब्द वाच्य जगत् कारण ने सत्य सकल्प का ईक्षण किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊं" और उस ईक्षण क्रिया का योग अचेतन प्रकृति में संभव नहीं है। अत एव इस प्रकार के ईक्षण करने में समर्थ चेतन सभी विषय (अर्थों) को जानने वाले, सर्वशक्तिमान् पुरुषोत्तम ही हैं और सत् शब्द से उन्हीं को श्रुति अभिहित करती है । इसीलिए सभी

सृष्टि के प्रकरणों में ईक्षण पूर्वक ही सृष्टि प्रतीत होती है। ऐतरेय श्रुति बतलाती है कि "निश्चय ही मैं लोकों को सृष्टि करूँ" और उसने लोकों को सृष्टि की। "उसने सत्य सकल्प रूपी ईक्षण किया और प्राण की सृष्टि की"। इन सभी कारण वादी वाक्यों में ईक्षण पूर्वक ही सृष्टि बतलायी गयी है।

टिप्पणी– "यस्मिन् शब्द एव प्रमाणं न भवति तदशब्दम्"। भाष्य में अवधारण गर्भित प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय है कि जिसमें केवल शब्द ही प्रमाण नहीं है, उसको अशब्द कहेंगे। सांख्य मतावलम्बी प्रकृति को ही जगत् का कारण मानते हैं। और उसकी सिद्धि अनुमान के द्वारा मानते हैं। उनका कहना है कि प्रकृति का जगत् कारणत्व अनुमान से सिद्ध होता है, उपनिषदें उसका अनुवाद मात्र करती हैं। वाचस्पति मिश्र का भी कहना है कि–'प्रधानं जगदुपादानकारणमनुमानसिद्धमनुवदन्त्युपनिषदः इति सांख्याः'

मूल– ननु च कार्यानुगुणेनैव कारणेन भवितव्यम्। सत्यम्। सर्वकार्यानुगुणः सर्वज्ञः एव सर्वशक्तिः सत्यसंकल्पः पुरुषोत्तमः सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकः। यथाह 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वे० ६।८) 'यः सर्वज्ञस्सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः' (मु० १।१।१०) यस्याव्यक्तं शरीरम्

यस्याक्षरं शरीरं यस्य मृत्युः शरीरम्- एष सर्व-भूतान्तरात्मा' (सु० उ० खण्ड ७) इति । तदेतत् 'न विलक्षणत्वात्' (ब्र० सू० २।१।४) इत्यादिषु प्रतिपादयिष्यते । अत्र सृष्टिवाक्यानि न प्रधान प्रति-पादनयोग्यानीत्युच्यते । यस्तु विरोधस्तुः तत्रैव परि-हरिष्यते । यत्तूक्तम्- प्रतिज्ञादृष्टान्त योगादनुमान-रूपमेवेदं वाक्यमिति । तदेतत् हेत्वनुपादानात् । 'येना-श्रुतम्' (छा० ६।१।३) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने प्रतिपिपादयिषिते सर्वात्मना तदसम्भवं मन्वानस्य तत्सम्भवमात्र प्रदर्शनाय हि दृष्टान्तोपादानम् । ईक्षत्या-दिश्रवणादेव ह्यनुमानगन्धाभावोऽवगतः ।

अनु०- यदि यहाँ पर साँख्य मतावलम्बी यह कहें कि कार्य और कारण मे सालक्षण्य नियम को होना चाहिए, तो उनका यह कहना तो ठीक है । और सूक्ष्म चेतन एवं अचेतन जिनके शरीर हैं वे सर्वज्ञ, सर्वशक्ति सम्पन्न, सत्य संकल्प करने वाले भगवान पुरुषोत्तम ही सभी कार्यों के अनुकूल कारण हैं । जैसा कि निम्नांकित श्रुतियाँ बतलाती हैं- 'इस परं ब्रह्म की अनेक प्रकार की परा शक्तियाँ सुनी जाती हैं । परमात्मा की ज्ञान और बल से युक्त सृष्टि एवं संहार आदि की शक्ति स्वाभाविक है । ' (यह श्वेताश्वतर श्रुति परमात्मा को सर्वशक्ति सम्पन्न रूप से बतलाती है ।)

जो परमात्मा सभी वस्तुओं को सामान्यतः एवं विशेष रूप से जानता है, तथा जिस परमात्मा को सृष्टि आदि व्यापार के सम्पादनार्थ सत्य संकल्प रूप ज्ञान से अतिरिक्त व्यापार नहीं करना पड़ता है। (यह मुण्डक श्रुति परमात्मा को सर्वज्ञ रूप से वतलाती है। इसी तरह निम्न सुबालश्रुति परमात्मा को सूक्ष्म चिद चित् शरीरक वतलाती हुई कहती है) 'जिस परमात्मा के अव्यक्त [प्रकृति] अक्षर [जीव] और मृत्यु [काल] शरार हैं वही परमात्मा सभी भूतों की अन्तरात्मा है। इसी अर्थ का प्रतिपादन सूत्रकार भी दूसरे अध्ययाय के प्रथम पाद में न 'विलक्षणत्वात्' इत्यादि सूत्रों के द्वारा करेंगे। इन सूत्रों में वतलाया जायेगा कि प्रधान का जगत् कारणत्व प्रतिपादन के योग्य नहीं है। विलक्षण त्वाधिकरण में ही अर्थ के सामर्थ्य के विरोध का परिहार कर दिया जायेगा।

सांख्यों ने इस सूत्र में यह जो कहा है कि आरम्भ विद्या प्रकरण में प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के उपादान करने के कारण वाचारम्भणम् इत्यादि श्रुति अनुमान स्वरूप ही है, क्योंकि प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के द्वारा हेतु वाक्य का सहसा ही आक्षेप कर लिया जाता है। तो सांख्य मतावलम्बियों का यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँ पर श्रुति ने तो हेतु वाक्य को उपस्थित किया नहीं है। आरम्भ विद्या प्रकरण में श्रुति को येना श्रुतम् इत्यादि वाक्य के द्वारा एक विज्ञान के द्वारा सर्व विज्ञान का प्रतिपादन मात्र अभिप्रेत है।

इस बात को जिज्ञासु श्वेतकेतु बिल्कुल असम्भव मानता था। उसको सम्भव ही सिद्ध करने के लिए वाचारम्भणम आदि श्रुति में दृष्टान्त को उपस्थित किया गया है। अत एव श्रुतियों में कारण वस्तु के ईक्षण आदि व्यवहार का संबन्ध सुने जाने के ही कारण अनुमान के द्वारा सिद्ध होने वाली प्रकृति से कारण श्रुतियों का बिल्कुल संबन्ध नहीं है,

मूल०— अथ स्यात् । न चेतनगतं मुख्यमीक्षणमिहोच्यते, अपि तु प्रधानगतं गौणमीक्षणम् "तत्तेज ऐक्षत । ता आप ऐक्षन्त" इति गौणेक्षण साहचर्यात् । भवति चाचेतनेष्वपि चेतनधर्मोपचारः । यथा "वृष्टिं प्रतीक्षाः शालयः" "वर्षेण बीजं प्रति सञ्जहर्ष" इति । अतो गौणमीक्षणमितीमामाशङ्कामनुभाष्य परिहरति—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

[illegible]- गौणेक्षण साहचर्यात् सतोऽपीक्षणव्यपदेशः सर्गा[illegible]वस्थाभिप्रायः । गौण इति 'तत्र' ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा' इति सच्छब्द प्रतिपादितस्य आत्मशब्देन व्यपदेशात् । एतदुक्तं भवति ।

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् स आत्मा' इति चेतनाचेतन

प्रपञ्चोद्देशेन सत आत्मत्वोपदेशोऽयं नाचेतने प्रधाने सङ्गच्छत इति अतस्तेजोबन्नानामपि परमात्मैवात्मेति तेजः प्रभृतयोऽपि शब्दा परमात्मन एव वाचकाः । तथाहि 'हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मना ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति परमात्मानुप्रवेशादेव तेजः प्रभृतीनां वस्तुत्व तत्तन्नामभाक्त्वं चेति तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त (छा०-६-२-६;४) इत्यादिषु मुख्य एवेक्षण व्यपदेशः अतः साहचर्येऽपि, तदैक्षत इत्यत्र गौणत्वाशङ्का दूरोत्सारितेति सूत्राभिप्रायः ॥६॥

अनु- यदि सांख्य मतावलम्बी यह कहें कि "तदैक्षत्" इत्यादि श्रुति में सत् शब्द वाच्य कारण का जो ईक्षण व्यापार सुना जाता है। वह चेतनानुकूल मुख्य व्यापार न होकर प्रकृति के अनुकूल गौण ईक्षण व्यापार है। ऐसा प्रकरण के पर्यालोचन से पता चलता है। 'उस तेज ने ईक्षण किया' 'उन जलों ने सोचा' इत्यादि छान्दोग्य श्रुतियों में जड़ तेज और जलों का गौण ईक्षण व्यापार से साहचर्य देखा जाता है। यही नहीं लोक में भी अचेतन वस्तुओं में चेतन वस्तुओं के धर्मों का औपचारिक प्रयोग देखा जाता है। जैसे 'धान वर्षा की प्रतीक्षा

कर रहे हैं' 'श्री रामायण के सुन्दर कांड में भी ऐसा प्रयोग देखा जाता है। जैसे वर्षा के द्वारा बीज अत्यन्त प्रसन्न हो गये' (इन सभी प्रयोगों में जड़ वस्तुओं में चेतन की प्रतीक्षा तथा हर्ष इत्यादि चेतन व्यापारों का प्रयोग देखा जाता है। अत एव सत् शब्द वाच्य प्रधान का भी गौण ईक्षण का सम्बन्ध श्रुति बतलाती है।

सांख्यों की इस शंका को हृदय में रख कर सूत्रकार उसका खण्डन करते हैं।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

(अर्थात यदि सत् शब्द वाच्य प्रकृति के होने का कारण ईक्षण व्यवहार का गौण होना कहें तो यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसी को [सत्य शब्द वाच्य को ही] आगे की श्रुति में आत्मा शब्द से अभिहित किया गया है।

सांख्यों ने यह जो कहा है कि गौण ईक्षण व्यापार के साहचर्य के कारण सत् शब्द वाच्य प्रकृति का भी ईक्षण व्यवहार सृष्टि से नियतपूर्वावस्था के अभिप्राय से युक्त होने के कारण गौण प्रयोग है। तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि 'यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मक है और वह परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत् की आत्मा होने के कारण सत्य है। इस छांदोग्य श्रुति में सत् शब्द से प्रतिपादित कारण तत्त्व को ही सत् शब्द से परामर्श करके आत्मा कहा गया है। कहने का आशय है कि इस श्रुति मे जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् का उद्देश करके सत् शब्द वाच्य को ही आत्मा रूप से उपदेश

दिया गया है। अतएव इस उपदेश का समन्वय जड़ प्रकृति से कभी नहीं हो सकता है।

इसीलिए तेज, अप् (जल) अन्न (पृथिवी) के भी आत्मा परमात्मा ही है। इस लिए तेज आदि भी शब्द परमात्मा के ही वाचक हैं। क्योंकि ,अरे ! मै इन पृथ्वी, जल' तेज, तीनो देवताओं के भीतर जीव के साथ स्वयं प्रवेश करके इनको विभक्त नाम रूपाहैं बनाऊं' यह छान्दोग्यश्रुति बतलातीहै कि परमात्मा के प्रवेश करने के ही कारण तेज आदि का वस्तुत्व तथा नाम रुप भाक्त्व सुरक्षित है। 'उस तेज ने ईक्षण किया, उन जलोंने चाहा' इत्यादि श्रुतियों में भी जड़ों का ईक्षण व्यपदेश मुख्य ही है, गौण नहो। अतएव साहचर्य के रहने पर भी "तदैक्षत्" श्रुति में ईक्षण के गौण प्रयोग की शंका नही करनी चाहिए। यह सूत्र का अभिप्राय है।

टिप्पणी :—

भाषा में वस्तुत्व शब्द काअर्थ तद्‌रूपता है। तेज का वस्तुत्व तेजस्तत्व होगा अप् का वस्तुत्व अप्त्व होगा पृथिवी का वस्तुत्त्व पृथिवित्व होगा इसी तरह से देव का वस्तुत्व देवत्व मनुष्य का वस्तुत्व मनुष्यत्व होगा' भाष्य के नाम भावत्व पद का अर्थ नाम वाच्यता है।

तेजोबन्नानामपि :— इत्यादि भाष्य में प्रयुक्त अपिशब्द का आशय यह है, कि जड़ पृथिवी जल, तेज आदि भी जब परमा -त्मात्मक हैं तो अन्य जीव धारियों को क्या कहना ? जगत् को

था। क्योंकि छान्दोग्य श्रुति बतलाती है "कि पुरुष इसलोक में जैसी उपासना करता है, मृत्यु के पश्चात वह वैसा ही हो जाता है। अत एव अचेतन प्रकृति का ध्यान [उपासना] करने वाले को अचेतन की ही प्राप्ति सम्भव है। और हजारों माता पिता से भी अधिक स्नेह करने वाले शास्त्र कभी भी इस प्रकार तापत्रय के प्रहार के कारणभूत जड़ संसारित्व की प्राप्ति का उपदेश कभी नहीं दे सकते। प्रकृति को ही कारण मानने वाले सांख्यों के उपासना को मोक्ष का साधन नहीं माना जाता है।

मूल०— इतश्च न प्रधानम्

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

यदि प्रधानमेव कारणं सच्छब्दाभिहितं भवेत् ,तदा मुमुक्षोः श्वेतकेतोस्तदात्मकत्वं मोक्षविरोधित्वाद्धेयत्वेनैवोपदेश्यं स्यात् न च तत्क्रियते, प्रत्युत उपादेयत्वेनैव "तत्त्वमसि" "तस्य तावदेव चिरम्" इत्युपदिश्यते ॥ ८ ॥

अनु०– किंच प्रकृति को जगत का कारण इसलिए भी नहीं माना जा सकता है कि हेयत्वावचनाच्च (अर्थात् इसको आत्मा को शास्त्र में त्याज्य रूप से नहीं बतलाया गया है।)

यदि सत् शब्द के द्वारा प्रकृति को ही जगत का कारण

बतलाया जाता तो फिर मुमुक्षु श्वेतकेतु को इस बात का भी उपदेश दिया जाना चाहिए था कि जगत का सदात्मकत्वानुसन्धान मोक्ष का विरोधी होने के कारण त्याज्य है। किन्तु श्रुतियों में ऐसा उपदेश न देकर 'तुम भी सदात्मक ही हो' "मुमुक्षु को मोक्ष प्राप्ति में देह पात मात्र का ही विलम्ब रहता है"। इत्यादि वाक्यों के द्वारा बतलाया गया है कि जगत में सदात्मकता का ही अनुसंधान करना चाहिए।

मूल०— इतश्च न प्रधानम्

प्रतिज्ञाविरोधात् ॥ ९ ॥

प्रधानकारणत्वे प्रतिज्ञाविरोधश्च भवति। वाक्योपक्रमे ह्येकविज्ञानेन सर्वं विज्ञानं प्रतिज्ञातम्। तच्च कार्यकारणयोरनन्यत्वेन कारण भूत सद्विज्ञानात्तत्कार्यं भूतचेतना चेतनप्रपञ्चस्य ज्ञाततयैवोपपादनीयम्। तत्तु प्रधान कारणत्वे चेतनवर्गस्य प्रधान कार्य्यत्वाभावात् प्रधानविज्ञानेन चेतनवर्गं विज्ञानासिद्धेर्विरूद्धयते ॥ ९ ॥

अनु०— किंच प्रकृति को इस लिए भी जगत का कारण नहीं माना जा सकता है कि—

प्रतिज्ञाविरोधात् ॥ ९ ॥

अर्थात् यदि प्रकृति को जगत का कारण माना जाये तो

फिर एक विज्ञान से की गई सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा का विरोध होगा ।)

प्रधान (प्रकृति) को जगत् का कारण मानने पर छान्दोग्योपनिषद् के आत्म विद्या प्रकरण मे की गई एक विज्ञान से सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा का विरोध होगा क्योंकि उक्त प्रकरण के आरम्भ में एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है। और उसकी सिद्धि तभी सम्भव है, यदि कार्य और कारण में अभेद हो। ऐसा होने पर ही कारण भूत सत् का विज्ञान होने पर उसको कार्य भूत जड़ चेतन जगत् का ज्ञान होना सम्भव है। यदि प्रकृति को जगत का कारण माना जाये तो चूंकि चेतन (जीव) प्रधान (प्रकृति) का कारण न ही हो सकता अतः प्रकृति के ज्ञान के द्वारा चेतन वर्ग का ज्ञान होना संभव नही होने से उक्त प्रतिज्ञा का विरोध होगा।

मूल- इतश्च न प्रधानम्-

स्वाप्ययात् ॥ १० ॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं प्रकृत्याहः स्वप्नान्तं में सोम्यविजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्यतदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति इति सुषुप्तं जीवं सता सम्पन्नं स्वमपीतः स्वास्मिन् प्रलीन इति व्यपदिशति

प्रलयश्च स्वकारणेलयः । न चाचेतनं प्रधानं चेतनस्य जीवस्य कारणं भवितुमर्हति । स्वमपीतो भवति आत्मानमेव जीवोऽपीतो भवतीत्यर्थः । चिद्वस्तुशरीरकं तदात्मभूतं ब्रह्मैव जीव शब्देनाभिधीयत इति नाम रूपव्याकरण श्रुत्योक्तम् । तज्जीवशब्दाभिधेयं ब्रह्म सुषुप्तिकालेऽपि प्रलयकाल इव नामरूपपरिष्वङ्गाभावात् केवल सच्छब्दाभिधेयमिति' सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति इत्युच्यते । तथा समानप्रकरणेनामरूपपरिष्वङ्गाभावेन प्राज्ञेनैव परिष्वङ्गात् (बृ- ६-६-२१) "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरम्" इत्युच्यते । आमोक्षाज्जीवस्यनामरूपपरिष्वङ्गादेव हि स्वव्यतिरिक्तविषयज्ञानोदयः । सुषुप्तिकाले हि नामरूपे विहाय सता सम्परिष्वक्तः पुनरपि जागरदशायां नामरूपे परिष्वज्यतन्नामरूपो भवतीति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमभिधीयते १ "यदा सुप्तःस्वप्नं नकथञ्चन पश्यति अथ ह्यस्मिन् प्राण एवैकधा भवति तस्माद्वा आत्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते" (कौषीतकी ४. १९.) तथा २ "तइह व्याघ्रो वा

सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तथा भवन्ति इति (छां०६. पु०९.ख३) तथा सुषुप्तं जीवं प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्व-क्तः इति च वदति । तस्मात्सच्छब्दवाच्यः परं ब्रह्म सर्वज्ञः परमेश्वरः पुरुषोत्तम एव । तदाह वृत्तिकारः "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवतीति, सम्पत्त्यसम्पत्तिभ्या मेतदध्यवसीयते 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः' इति-चाहेति ।

अनुवाद- प्रकृति का इसलिए भी जगत् कारणत्व नहीं माना जा सकता है क्योंकि-स्वाप्यात [१०]

अर्थात् सुषुप्तावस्था में जीव अपने कारणत्व में लीन हो जाता है ।)

उस सत् शब्द का विवेचन करते हुए पिता उद्दालक ने कहा "ऐ सोमरस पानार्हसच्छिष्य मेरे द्वारा ही तुम सुषुप्ति के तत्वों को जानों जिस समय यह जीव सुषुप्ति में चला जाता है उस समय वह सत् शब्द वाच्य अपने कारण तत्व में लीन हो होता है इसलिए उस काल में उसे स्वपिति शब्द से अभिहित किया जाता है । क्योंकि वह अपने को ही अपने कारण तत्व में लीन करता है । यह श्रुति बतलाती है कि जीव सुषुप्तावस्था में सत् शब्द वाच्य अपने कारणभूत परमात्मा में लीन हो जाता

है। "स्वमपीतः" का अर्थ है कि वह अपने में लीन होता है। अपने कारण में ही लय होने को कहते हैं प्रलय (यानी कार्यावस्था के समाप्त हो जाने पर कारणावस्था में अन्तर्भूत हो जाने को लय कहते हैं। चूंकि अचेतन प्रकृति चेतन जीव का कारण नहीं हो सकती इस लिए स्वपीतो भवति का अर्थ हुआ जीव अपने कारण भूत आत्मा में ही लीन होता है। नाम रूप व्याकरण श्रुति में यह बतलाया गया है। कि जीव जिसका शरीर है वह सबों की आत्मा ब्रह्म ही जीव शब्द के द्वारा अभिहित किया जाता है। वह जीव शब्द से कहे जाने वाला ब्रह्म ही प्रलय काल के समान सुषुप्ति काल में ही नाम और रूप के सम्बन्ध से रहित होने के कारण केवल सत् शब्द के द्वारा कहा जाता है। इसी अर्थ को "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति" इस श्रुति में कहा गया है। (इस श्रुति का अभिप्राय है कि हे। सोमरस पानाहं श्वेतकेतो सुषुप्तावस्था में जीव सत् शब्द वाच्य अपने कारण तत्व से मिल जाता है इसलिए वह अपने को लीन कर देता है।

इसी तरह के कारणों वादी अन्य प्रकरणों में भी यह बतलाया गया है कि सुषुप्तावस्था में जीव नाम रूप से रहित हो जाने के कारण प्राज्ञ परमात्मा के द्वारा ही आलिङ्गित हो जाता है। वृहदारण्यक श्रुति बतलाती है कि सुषुप्ता वस्था में परमात्मा आलिङ्गित होकर जीव बाह्य या आभ्यन्तर किसी भी प्रकार के

विषय को नहीं जान पाता है। मोक्ष पर्यन्त जीव को अपने से भिन्न विषयों का ज्ञान इसलिए होता रहता है कि मोक्ष होने से पूर्व जीव का नाम रूप से सम्बन्ध रहता है। दूसरी श्रुति में स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि सुषुप्ति काल में जीव नाम और रूप का त्याग करके सत् शब्द वाच्य परमात्मा से आलिङ्गित होता है और फिर जाग्रत की अवस्था में नाम रूप की अवस्था से युक्त हो कर अपने नाम रूप को ग्रहण करता है। कौशित की उपनिषद् की श्रुति बतलाती है कि "सुषुप्तावस्था" में जब जीव किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता उस समय उसकी सभी इन्द्रियाँ एक रूप हो जाती है" इसी लिए निश्चय ही आत्मा की की इन्द्रियाँ अपने स्थानानुसार प्रस्थानकर जाती है। और छान्दोग्योपनिषद् में भी सुषुप्ति प्रकरणमें बतलाया गया है कि सुषुप्ति से पहले जो जीव व्याघ्र सिंह भेड़िया सूकर अथवा मच्छर होते हैं वे सुषुप्ति के पश्चात् भी सुषुप्ति के पूर्व की वासना से वासित होने के कारण व्याघ्र सिंह सूकर भेडिया मच्छर मसक हो जाते हैं। उसी तरह से यहाँ भी श्रुति सुषुप्तावस्था गत जीव को प्राज्ञ परमात्मा से आलिङ्गित बतलाती है। इस सत् शब्द से कहे जाने वाले परं ब्रह्म ही सर्वज्ञ परमेश्वर एवं पुरुषोत्तम् हैं। इसी अर्थ का समर्थन करते हुए वृत्तिकार भी कहते हैं "सतासोम्यतदासम्पन्नो भवति" इस श्रुति के द्वारा कही गई ब्रह्म की प्राप्ति अप्राप्ति के द्वारा ऊपर्युक्त अर्थ का निश्चय किया जाता है। श्रुति में ही बतलाया गया है कि सुषुप्तावस्था में जीव प्राज्ञ पर-मात्मा से आलिङ्गित रहता है।

टिप्पणी:– सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवतिस्वमपीतो भवति । इस श्रुति में स्वशब्द सत् शब्द के समान ही विषय वाला होने के कारण परमात्मा को बतलाता है वह परमात्मा अद्वैती विद्वानों के अभिमत निर्विशेष ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि नित्यनिर्विकार ब्रह्म उपादान कारण नहीं हो सकता है । उपादान कारण वही होता है जिसकी अवस्थायें बदलती हों और कार्य का प्रलय अपने उपादान कारण में ही होता है । यहां पर अद्वैती विद्वान यदि यह कहें कि जिस तरह सीपी में प्रतीत होनेवाले रजत का सीपी में ही लय हो जाता है उसी प्रकार से सुषुप्तावस्था में निर्गुण ब्रह्म में जीव का लीन होना समझना चाहिए । तो उनका यह कहना उचित न होगा क्योंकि जिस तरह से सीपी में रजत के स्वरूप की निवृति हो जाती है । उसी प्रकार जीव के स्वरूप की भी निवृति होने लग जायेगी ।

जिस तरह महाकाश में घटाकाश आदि का लय हो जाता है । उस प्रकार से भी जीव का लय नहीं माना जा सकता है क्यों कि सुषुप्तावस्था में जीव की देह आदि उपाधियाँ बनी रहती हैं । क्षिति तल में भी होने वाले घट के लय के समान जीव के ब्रह्म में लय क्यों नहीं माना जा सकता है । क्योंकि जिस तरह घट के साथ घटत्व का भी नाश हो जाता है उसी तरह से जीव के लय के साथ ही जीवत्व का नाश मानना होगा । ऐसी स्थिति में जो श्रुतियाँ जीव को नित्य बतलाती हैं उनका विरोध होगा साथ ही साथ सुषुप्तावस्था में भी देह आदि उपाधियों के बने

रहने के कारण जीवत्व का नाश सुषुप्तावस्था में नहीं माना जा सकता है। किञ्च- यदि सुषुप्ति मात्र से ही जीवत्व की निवृत्ति मान ली जाय तो फिर मोक्ष के लिए किया जाने वाला उपाय व्यर्थ होगा। किञ्च आत्मा अल्पज्ञ है और परमात्मा सर्वज्ञ है। इस प्रकार के भेद के रहने के कारण यही मानना उचित होगा कि "स्वमपीतो भवति" में स्वशब्द जीव विशिष्ट परमात्मा का ही वाचक है।

मू०—इतश्च न प्रधानाम्—

गतिसामान्यत् ॥११॥

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चनमिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकान सृजत" (ऐत १-१) " तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः । आकाशाद्वायु। वायोरग्निः। अग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी" (तैआन-१ १) तस्य ह्याएतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः इत्यादिसृष्टि-वाक्यानां या गतिः-प्रवृत्तिः तत्सामान्यात् तत्समानार्थत्वादस्य, तेषु च सर्वेषु सर्वेश्वरः कारणमवगम्यते तस्मादत्रापि सर्वेश्वर एव कारणमितिनिश्चीयते।११।

अनु०—प्रकृति को इस लिए भी सत् शब्द वाच्य नहीं माना जा सकता है। कि—"गतिसामान्यत्" (अर्थात सृष्टि वाक्यों की जो प्रवृत्तिगति है उनका अर्थसर्वत्र एक ही है। ऐतरेय श्रुति यह बतलाती है कि सृष्टि से पूर्व केवल आत्मा ही था तद् व्यतिरिक्त कुछ भी सद् वस्तु नहीं थी। उस आत्मा ने सत्य संकल्प, रूप ईक्षण किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूं और उसने लोकों की सृष्टि की। इसीतरह आनन्दवल्ली की एक दूसरी श्रुति बतलाती है कि उस प्रसिद्ध आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। ऐसे ही गुवाल श्रुति कहती है कि निश्चय ही उस प्रसिद्ध परमब्रह्म के ऋगवेद आदि सभी वेद निःश्वास भूत हैं। ये सभी सृष्टि वाक्यों की जो गति (प्रवृत्ति है, वह समानार्थक ही है। अतएव उनसभी श्रुतियों में सम्पूर्ण जगत के नियामक परमात्मा ही कारण रूपसे प्रतीत होते हैं। इसलिए यह निश्चय होता है कि यहां भी सत् शब्द के द्वारा सर्वेश्वर को ही कारण रूप से बतलाया गया है।

मूल—इतश्च न प्रधानम्

श्रुतत्वाच्च ॥ १२ ॥

श्रुतमेव ह्यस्यामुपनिषदि अस्य सच्छब्दवाच्यस्य आत्मत्वेन नामरूपो व्याकर्तृत्व सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सर्वाधारत्वमपहतपाप्मत्वादिकं सत्यकामत्वं सत्य-

सङ्कल्पत्वञ्च 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, (छा० ६-३-२) "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाःसदायतनाः सत्प्रतिष्ठा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम् तस्मिन्कामाः समाहिताः" एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु विशोको ऽविजघत्सोऽपिपासः सत्यकमस्सत्यसङ्कल्पः ॥ इति ॥ तथा च श्रुत्यन्तराणि" (श्वे ६-९) नतस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव तस्य लिङ्गम् स कारणं करणाधिपधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" सर्वाणि रूपाणि विचित्यधीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते अन्तःप्रविष्ट शास्ता जनानां सर्वात्मा' 'विश्वत्मानं परायणम्' पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्' 'यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयते ऽपिवा अन्तर्बहिश्च तत्सर्वंव्याप्यः नारायण स्थितः 'एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः इत्यादीनि । तस्माज्जगत्कारण वादिवाक्यं न प्रधानादि प्रतिपादन योग्यम् अतः सर्वज्ञस्सर्वश

क्तिस्सर्वेश्वरेश्वरो निरस्तनिखिलदोषगन्धोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगुणौघमहार्णवः पुरुषोत्तमो नारायण एव निखिलजगदेककारणं जिज्ञास्यं ब्रह्मेति स्थितम् ।

अनु०– सत् शब्द वाच्य प्रकृति को इसलिए भी नहीं माना जाता है, क्योंकि 'श्रुतत्वाच्च" (अर्थात् इस छन्दोग्योपनिषद् में भी सत् शब्द वाच्य का आत्मा रूप से नाम रूप व्याकर्तृत्व सुना जाता है ।)

छान्दोग्योपनिषद् में भी इस सत् शब्द वाच्य का आत्मा रूप से जगत के नामरूप का व्याकर्तृत्व सर्वज्ञत्व सर्वशक्ति मत्ता सम्पूर्ण जगत का आधारत्व सर्वपाप रहितत्व आदि तथा सत्यकामत्व एवं सत्यसंकल्पत्व सुना जाता है । इस जीव के साथ आत्मारूप से प्रवेश करके जगत के नाम रूप का व्याकरण करूँ, यह श्रुति ब्रह्म के आत्मा रूप से नाम रूप का व्याकर्तृत्व बतलाती है ।) हे सोमरस पानाहं श्वेतकेतो इस सारी प्रजा का मूल, आधार और धारक सत् शब्द वाच्य परम ब्रह्म ही है । [यह श्रुति ब्रह्म को सम्पूर्ण जगत का आधार बतलाती है ।] यह सम्पूर्ण जगत परमात्मात्मक है, अतएव वह परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है और सत्य है । (यह श्रुति ब्रह्म को जगत की आत्मा बतलाती है) जो कुछ इस लोक में देखा जाता है,

ओर नहीं देखा जाता है वह सब कुछ ब्रह्म में ही समाहित है। और लोक के सभी जीवों की कामनायें उस ब्रह्म में हो समाहित हैं। ' 'यह आत्मा सभी पापों से रहित वार्धक्य, मृत्यु, शोक, भूख एवं प्यास से रहित है, उसकी सारी कामनायें और संकल्प सत्य होते हैं। ' यह श्रुति ब्रह्म को अखिलहेयप्रत्यनीक एवं कल्याण गुणाकर बतलाती हैं। इसी तरह दूसरी श्रुतियाँ भी ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं। श्वेताश्वतर श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म का कोई स्वामी नहीं है। और न तो उसका कोई नियामक ही है। संसार में उसका कोई कारण नहीं पाया जाता वह करणाधिप (जीव) का भो स्वामी है। किन्तु इस ब्रह्म का कोई पिता और स्वामी नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक की श्रुति यह बतलाती है कि 'संसार में पाये जाने वाले सभी रूपों एवं नामों का निर्माण ब्रह्म ने ही किया, जो लोक में बोले और पाये जाते हैं' 'ब्रह्म ही सभी जीवों के अन्तः करण मे प्रवेश करके उनका नियमन करता है अतएव वह सभी जीवों की आत्मा है' ''ब्रह्म सम्पूर्ण जगत की आत्मा और आश्रय है। वह विश्व का स्वामी आत्मा और नियामक है। इसलोक में देखी और सुनी जाने वाली वस्तुओं के भीतर और बाहर व्यापक रूप से नारायण विद्यमान है। यह दिव्यदेवनारायण ही सभी भूतों की अन्तरात्मा तथा पाप रहित हैं। ये सभी श्रुतियाँ ब्रह्म को कारण रूप से बतलाती है)

अतएव जगत् के कारण को बतलाने वाले वेदान्त वाक्य

प्रकृति के प्रतिपादन के योग्य नहीं है। अतएव निश्चित होता है कि सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान सर्वेश्वर सभी दोषों से रहित सीमातीत सर्वोत्कृष्ट असंख्येय कल्याण गुण समूहों के महा समुद्र पुरुषोत्तम भगवान नारायण ही सम्पूर्ण जगत के एक मात्र कारण एवं ब्रह्म रूप से जानने के योग्य हैं।

मूल०–अत एव निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मवादोपि सूत्रकारेणाभिः श्रुतिभिर्निरस्तो वेदितव्यः पारमार्थिकमुख्येक्षणादिगुणयोगि जिज्ञास्यं ब्रह्मेति स्थापनात् निर्विशेषवादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकं वेदान्तवेद्यं ब्रह्म जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञातम्'। तच्च चेतनमिति' ईक्षतेर्नाशब्दम् इत्यादिभिस्सूत्रैः प्रतिपाद्यते। चेतनत्वं नाम– चैतन्यगुणयोगः। अत ईक्षणगुणविरहिणः प्रधान तुल्यत्वमेव। किञ्च–निर्विशेष प्रकाशमात्र ब्रह्म वादे तस्य प्रकाशत्वमपि दुरुपपादम्। प्रकाशो हि नाम–स्वस्य परस्य च व्यवहारयोग्यतामापादयन् वस्तुविशेषः। निर्विशेषस्य वस्तुनस्तदुभयरूपत्वाभावा द्घटादिवदचित्त्वमेव। तदुभयरूपत्वाभाववत्वेऽपि तत्क्षमत्वम् स्तीति चेत् तन्न तत्क्षमत्वं हि तत्सामर्थ्यमेव। सामर्थ्य गुणयोगे हि निर्विशेषवादपरित्यक्तः स्यात्। अथ श्रुति प्रमाण्यादयमेको विशेषोऽभ्युपगम्यत इति चेत् हन्त

तर्हि तत एव सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्वम् सर्वेश्वरेश्वरत्वं सर्वकल्याणगुणाकरत्वम् सकलहेयप्रत्यनीकतेत्यादयः सर्वेऽभ्युपगन्तव्याः । शक्तिमत्वं च कार्य्यविशेषा नुगुणत्वम् । तच्च कार्य्यविशेषैकनिरूपणीयम् । कार्य्य-विशेषस्य निष्प्रमाणकत्वे तदेकनिरूपणीयं शक्तिमत्व मपि निष्प्रमाणकं स्यात् । किञ्च निर्विशेष वस्तु वादिने वस्तुत्वमपि निष्प्रमाणम् । प्रत्यक्षानुमानागम स्वानुभवाः सविशेषगोचरा इति पूर्वमेवोक्तम् । तस्माद्विचित्र चेतना चेतनात्मकजगद्रूपेण 'बहुस्या' मि तीक्षणक्षमः पुरुषोत्तम एव जिज्ञास्य इति सिद्धम् ।२।

अनु०—इसलिए निर्विशेष ज्ञान मात्र ब्रह्म को मानने वालों के मत का भी सूत्रकारने इन श्रुतियों के द्वारा खण्डन किया है, यह समझना चाहिए । क्योंकि उन्होंने इस बात की स्थापना की है कि जिज्ञास्य ब्रह्म का ईक्षणादि गुण पारमार्थिक एवं मुख्य है । निर्विशेष ब्रह्मवाद में ब्रह्म का साक्षित्व भी अपारमार्थिक है । वेदान्तों के विषयभूत ब्रह्म जिज्ञास्य रूप से प्रतिज्ञात है और वह चेतन है । यह "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि सूत्रों के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है । चेतन उसे कहते हैं जिसमें चैतन्य(ज्ञान)नामक गुण हो अतएव ईक्षण के गुण से रहित होने

पर तो वह प्रधान के ही सदृश होगा। किञ्च निर्विशेष ज्ञान मात्र ब्रह्म को मानने वाले के मत में ब्रह्म का ज्ञानत्व भी नहीं सिद्ध हो सकता है। प्रकाश उस वस्तु विशेष को कहते हैं जो स्वयं के साथ साथ दूसरे को भी व्यवहार के योग्य बना दे। निर्विशेष वस्तु में न तो अपने को व्यवहारों के बनाने की क्षमता है न दूसरे को ही। अतएव इन दोनों गुणों से रहित होने के कारण निर्विशेष वस्तु भी घट आदि के समान जड़ ही होगी। यदि कहें कि यद्यपि निर्विशेष वस्तु में ये दोनों गुण नहीं हैं फिर भी वह स्व एवं पर के प्रकाश करने में सक्षम है। तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सामर्थ्य का नाम ही क्षमता है, अतएव सामर्थ्य नामक गुण का योग मानने पर निर्विशेष वाद को त्यागना होगा। यदि कहें कि श्रुति के प्रमाण के कारण यह एक विशेषता ब्रह्म में स्वीकार करते हैं। तबतो फिर ब्रह्म में सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता सर्वेश्वरता सर्व कल्याणगुणाकरता सकलहेयप्रत्यनीकता आदि सभी गुणों को भी स्वीकार करना चाहिए।

कार्य विशेष की अनुगुणता को ही शक्तिमत्ता कहते हैं। और उसका निरूपण कार्य्य विशेष के द्वारा ही किया जाता है यदि विशेष में ही कोई प्रमाण नहीं है, तो फिर केवल उसी के द्वारा ही निश्चित की जाने वाली शक्तिमत्ता में भी कोई प्रमाण न होगा। किञ्च निर्विशेष वस्तु वादियों का वस्तुत्व

भी अप्रमाणिक है। क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और अपने अनुभव यह सभी प्रमाण सविशेष वस्तु को ही अपना विषय बनाते हैं, यह पहले ही हम कह चुके हैं। इसलिए सिद्ध हुआ कि विचित्र चेतना चेतनात्मक जगत रूप से एक से अनेक हो जाऊं इस प्रकार के ईक्षण करने में समर्थ पुरुषोत्तम ही जिज्ञास्य हैं।



हिन्दी श्रीभाष्य के ग्राहक

१— श्री १००८ श्री स्वामी शेषनारायणाचार्य स्वामी जी महाराज रामानुज कोट भूपतवाला, हरिद्वार (उ० प्र०)

२— श्रीमान् महान्त गोविन्दाचार्य जी ठाकुर बाड़ी अतिमीगंज, पो० महदेवा, भया नासिरीगंज जि० रोहतास

३— श्री पं० शिवलखन पाण्डेय जी पेरहाप, पो० एकवारी जि० भोजपुर (बिहार)

४— श्री प० रामलखन तिवारी जी, पेरहाप, एकवारी, भोजपुर

५— श्रीमन् पं० गुरुचरण मिश्र जी; शंकरपुर ठकुराई परसियाँ नासिरीगंज, रोहतास, बिहार

६—अनूका त्रिपाठी प्रधानाचार्य सं. वि. गोड़ारी ग्रा. पो. गोड़ारी रोहतास

७— श्री पं. जगदयालु द्विवेदी जी पकड़ी, पो० राजपुर, जि०— रोहतास, बिहार

८— श्री शंकर लाल अग्रवाल छेदीगंज खेर, पो० खैर जि.- अलीगढ़ (उ० प्र०)

९— वेदान्त सेवासंघ १००प्र: मोरी दारागंज तीर्थराज प्रयाग [उ० प्र०]

१०— श्री देवनारायणाचार्य जयभारत साधुमहाविद्यालय श्रवणनाथ नगर हरिद्वार

११— श्री १००८ श्रीमान महान्त रामाचार्य जी महाराज बिहटा मठ पो० बिहटा इंगलिश जि०—भोजपुर [बिहार]

१२— श्री रामभरोसे पराशरी शास्त्री ग्रा. पो. मुहम्मदपुर लई बदायूं [उ० प्र०]

१३– डा० रामनिवास चण्डक सविता ट्रेडर्स सविता सदन खैरताबाद, हैदराबाद ४

१४– श्री नारदस्वामी जी. महराज झारखण्डी स्थान डिहरी रोहतास

१५– श्रीमान् महान्तनामाचार्य जी महाराज वेंकटेशमन्दिर पंचलखिया राजगिरि

१६– श्रीमान् महान्त स्वामी वेंकटेशप्रपन्नाचार्य जी महराज बहिरौली स्थान जि० भोजपुर, बिहार

१७– श्री दामोदर प्रपन्न स्वामी जी महराज राधाकृष्ण मन्दिर नं० १८० चिना बाजार रोड मद्रास तमिलनाडु



हिन्दी श्रीभाष्य योजना समिति से प्राप्य पुस्तकें :—

१–हिन्दी श्रीभाष्य प्रथम भाग	२–५०
२–हिन्दी श्री भाष्य द्वितीय भाग	३–००
३–हिन्दी श्री भाष्य तृतीय भाग	४–००
४–हिन्दी श्री भाष्य चतुर्थ खण्ड	५–००
५–हिन्दी श्री भाष्य पञ्चम खण्ड	३–००
६–हिन्दी श्री भाष्य षष्ठ भाग	४–००



—: पुस्तक प्राप्ति स्थान :—

१:—हिन्दी श्रीभाष्य प्रकाशन योजना समिति
श्याम सदन, मु०–कटरा, पो०–अयोध्या, जि०–फैजाबाद (उ.प्र०)

२:—जगद्गुरु रामानुजाचार्य यतीन्द्र
स्वामी रामनारायणाचार्यजी महाराज
श्री कोसलेश सदन कटरा, पो०-अयोध्या, जि०-फैजाबाद (उ०प्र०)

३–श्री स्वामी वीर राघवाचार्य शास्त्री
पुरानी यज्ञवेदी, पूर्व फाटक (उत्तर स्थान) पो०–अयोध्या
जि०–फैजाबाद (उ० प्र०)
पि० नं० २२४१२३

मुद्रक :—श्याम मुद्रणालय, श्याम सदन कटरा अयोध्या ।